अंक २६
Number 26

दिसम्बर, १६८०
December, 1980

सज्जा कला अंक

Decorative Art Issue
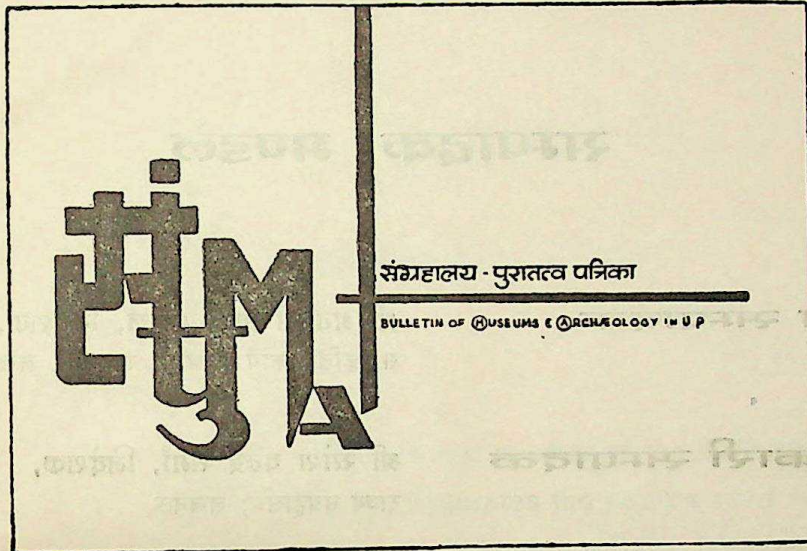
अंक २६ दिसम्बर, १६८०
Number 26 December, 1980

संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका
Bulletin of Museums & Archaeology

सज्जा कला अंक
Decorative Art Issue

राज्य संग्रहालय, लखनऊ

सम्पादक मण्डल

प्रकाशक — सांस्कृतिक कार्य विभाग,
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

कार्यालय — राज्य संग्रहालय, लखनऊ-२२६००१
फोन : ४३१०७

EDITORIAL

The present number of the Bulletin of Museums and Archaeology incorporates the papers read on the Decorative Arts in a Seminar held at the State Museum, Lucknow, a few years ago, but due to one reason or the other their publication could not be brought out earlier. The articles impart a fair glimpse of variety of Decorative Arts practised in different parts of Uttar Pradesh. We hope this issue although modest in shape and size would prove to be of much interest to the students and also to the researchers.

EDITORS

———

CONTENTS

उद्‌घाटन–सम्बोधन

देवियो और सज्जनो,

राज्य संग्रहालय, लखनऊ, की पिछली कुछ संगोष्ठयों में जिसका उल्लेख निदेशक, राज्य संग्रहालय ने भी अपने भाषण में किया है मुझे भी उपस्थित रहने का अवसर मिला है। साथ ही साथ पिछले कुछ वर्षों से सांस्कृतिक कार्यं विभाग का अध्यक्ष होने के नाते मेरे लिए संग्रहालयों के विविध कार्यों को भी पास से देखना सम्भव हो सका। किसी समय संग्रहालय केवल चित्र–विचित्र वस्तुओं के संग्रह भर माने जाते थे और कोतुकालय, जादूघर आदि नामों से पुकारे जाते थे। लोग संग्रहालय में केवल मनोरंजन के लिए आते थे। और भांति-भांति की विचित्र वस्तुओं को देख कर आश्चर्य प्रकट करते हुए बाहर निकल जाते थे। इस प्रकार ये संग्रहालय केवल जनता के मनोरंजन के साधन भर माने जाते थे। समय कीं गति के साथ संग्रहालय सम्बन्धी इस दृष्टिकोण ने पलटा खाया और उनकी उपयोगिता पर शिक्षा को एक प्रमुख माध्यम के रूप में विचार होने लगा। घर कुछ बच्चों का शिक्षण केन्द्र होता है, पाठशालायें, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय बहुत से छात्रों को शिक्षण देते हैं, किन्तु छोटे बड़े लोगों को सामूहिक रूप में अप्रत्यक्ष शिक्षण देने का कार्य संग्रहालय करते हैं। दर्शकों को न बतलाते हुए भी उनके मन और बुद्धि को प्रदर्शित वस्तुओं की ओर कोमल रूप से आर्कषित कर उनमें देशोपयोगी चैतन्य, प्रेरणा और स्वाभिमान के बीज बोना संग्रहालयों का कठिन कार्य होता है। सभी विकसित देशों में संग्रहालयों के सम्बन्ध में अब यही दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। इस नये लक्ष्य के कारण संग्रहालयों के कर्तव्यों में भी वृद्धि हो गई है। अब उनका दायित्व केवल चित्र-विचित्र वस्तुओं का संग्रह कर उनका प्रदर्शन भर कर देने से समाप्त नहीं होता अपितु शिक्षा के नये-नये प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने सांचे में ढालना होता है। साधारण जनता का मनोविज्ञान, विभिन्न स्तरों के लोगों की बुद्धि की क्षमता, वैज्ञानिक आविष्कार, कला जगत की नवीन उपलब्धियां तथा अपने सीमित साधनों को ध्यान में रख कर ज्ञान वितरण के अपने उद्देश्य को पाने के लिए संग्रहालयों में कई विधाओं का सहारा लिया जाता है। इनमें से एक देश के विद्वानों के साथ निकटतम सम्पर्क, चर्चायें, विचार एवं उपलब्धियों का आदान-प्रदान करना भी है। राज्य संग्रहालय, लखनऊ में होने वाली संगोष्ठियों की यही पृष्ठभूमि है। हमारा यह संग्रहालय १०० वर्षों से अधिक पुराना है। पिछले सुयोग्य अधिकारियों ने अथक परिश्रम करके यहां भांति-भांति की वस्तुओं का

संग्रह किया है। यदि इस धरोहर को हम स्वयं समझने तथा दूसरों को समझाने का प्रयत्न नहीं करते हैं तो निश्चय ही किसी प्रकार भी हम ऋषिऋण से मुक्त नहीं हो सकेंगे। मैं देखता हूं कि पिछले कुछ वर्षों में राज्य संग्रहालय ने अपने सीमित साधनों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन ब्राह्मण धर्म की मूर्तियां, जैनकला, मिट्टी की मूर्तियां और खिलौने आदि विविध विषयों पर संगोष्ठियां आयोजित की हैं तथा बहुधा ऐसे अवसरों पर विषयों से सम्बन्धित सामान्य जनता की रुचि के अनुकूल अस्थाई प्रदर्शनियों को भी आयोजित किया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि राज्य संग्रहालय के इन प्रयासों को जनता ने तो सिर आँखों पर लिया ही है पर विद्वानों ने भी खूब सराहा है। भारत के चोटी के कई विद्वान् तथा विदेश के विद्वान् भी संग्रहालय के निमंत्रण का समादर करके यहां पधारते हैं, पूरी रुचि से कुछ असुविधाओं को सहते हुए भी यहां की सगोष्ठियों में भाग लेते हैं तथा अपने निबन्धों को संग्रहालय की शोध पत्रिका में प्रकाशित करने के लिए सहर्ष अनुमोदन भी देते हैं। इसी क्रम में भारतीय-सज्जा-शिल्प विषय पर होने बाली इस संगोष्ठी में भाग लेने के लिए दूर-दूर से विद्वान् पधारे हुए हैं। आप सबके बीच में पुनः एक बार अपने को पाकर मैं प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूं। बहुधा विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास, दर्शन, भूगोल, भाषाविज्ञान आदि विषयों पर छोटे बड़े स्तर पर संगोष्ठियां हुआ करती हैं, किन्तु भारतीय-सज्जा-शिल्प पर कदाचित ही कोई संगोष्ठी आयोजित की जाती है। प्रिन्स आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई, जयपुर के संग्रहालय, सालारजंग संग्रहालय, हैदराबाद, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, भारत कला भवन, वाराणसी, जैसे संग्रहालयों के लिए यह बात सरल है पर राज्य संग्रहालय ने निश्चय ही इस प्रकार की संगोष्ठी का आयोजन करके साहस से कदम बढ़ाया है और इसके लिए मैं इस संग्रहालय के सभी कर्मचारियों को बधाई देता हूं। आज से होने वाली इस सगोष्ठी में आप उनके कार्यों को परखें, उनके प्रयत्नों को उचित दिशा में आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करें तथा भारतीय-सज्जा-शिल्प जैसे विषय के अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए उत्तर प्रदेश शासन को भी उचित संकेत दें। इस निवेदन के साथ मैं अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राज्य संग्रहालय की इस संगोष्ठी को उद्घाटित कर रहा हूं।

शिरोमणि शर्मा, सचिव तथा निदेशक,

दिनांक १६ नवम्बर, १९७३ — सांस्कृतिक कार्य एवं वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग, उ०प्र०।

स्वागत-भाषण

देवियो और सज्जनो,

राज्य संग्रहालय, लखनऊ द्वारा आयोजित प्रस्तुत संगोष्ठी के अवसर पर आपका स्वागत करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। पिछले कई वर्षों से राज्य संग्रहालय ने यह प्रथा चलाई है कि किसी विशिष्ट विषय को लेकर विद्वानों की एक ऐसी संगोष्ठी आयोजित की जाय जिसमें हमारी आर्थिक सीमाओं को देखते हुए अधिकाधिक संख्या में विद्वानों को निमंत्रित किया जाय तथा उस विषय से सम्बन्धित उनसे विभिन्न विषयों की चर्चा की जाय, उनके विचारों को सुना जाय तथा अपने कार्य करने की प्रगति से उन्हें तथा जनता को परिचित कराया जाय। साधारण जनता के लाभ की दृष्टि से प्रति वर्ष यह भी व्यवस्था

की जाती रही है कि यथासम्भव उस अवसर पर संगोष्ठी से सम्बन्धित विषय पर एक प्रदर्शनी का आयोजन हो जिसमें हमारे संग्रह की ऐसी वस्तुयें जनता के लिए सामने रखी जांय जो स्थानाभाव के कारण सामान्य जन की आखों से ओझल हो रही हों। हमारे लिए यह प्रसन्नता की बात है कि पिछले वर्षों की संगोष्ठियों में कुछ विदेशी विद्वान् तथा देश के कोने कोने के चोटी के विद्वान् हमारे निमन्त्रण का समादर कर भाग लेते रहे हैं। गत संगोष्ठियों का क्रम निम्न था :—

१९६९–७० – ब्राह्मण धर्म की देव मूर्तियां प्रारम्भ से कुषाणकाल तक
१९७०–७१ – ब्राह्मण धर्म की देव मूर्तियां गुप्तकाल से मध्यकाल तक
१९७१–७२ – जैन कला
१९७२–७३ – भारतीय मृण्मूर्तियां

इस क्रम में आज की संगोष्ठी ५वीं संगोष्ठी है। इसका विषय है 'भारतीय-सज्जा-शिल्प' या इण्डियन डिकोरेटिव आर्ट्स।

मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों में सौन्दर्य प्रेम या रमणीयता की चाह एक प्रमुख प्रवृत्ति आदिकाल से रही है। अति प्राचीन मानव द्वारा अपने निवास की गुफाओं में बनाये गये गुफा चित्र उसकी इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इस प्रकार सौन्दर्य की तो सभी उपासना करते हैं। सौन्दर्य दो प्रकार का होता है। एक तो प्रकृति द्वारा प्रदत्त और दूसरा मानव द्वारा निर्माण किया हुआ। जो मूलतः सुन्दर है उसे अलंकरण या मण्डन की आवश्यकता नहीं पड़ती है। परन्तु कठिनाई यह है कि संसार में सभी कुछ सत्य, शिव और सुन्दर नहीं होता। अपितु बेमेल, बेडोल, भौंड़ी या कम सुन्दर वस्तुओं की ही प्रधानता रहती है। मानव का सौन्दर्य प्रेम उन्हें अपनी रुचि के अनुकूल सुन्दर बनाने की चेष्टा करता है और यही प्रवृत्ति सज्जा शिल्प या डिकोरेटिव आर्ट को जन्म देती है। इस विद्या के अर्न्तगत पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, सोना, चांदी, तांबा, कांसा, गिलट आदि अनेक धातुयें, हाथीदांत, चीनी मिट्टी, शीशा आदि विविध माध्यमों में बनी हुई विविध प्रकार की दैनिक उपयोग अथवा सजावट की कलाकृतियों का समावेश होता है। विविध देश, विविध काल तथा विविध परिस्थितियों में बनी हुई कलाकृतियां अपने समय की आर्थिक स्थिति तथा सांस्कृतिक विकास का जीता जागता चित्र उपस्थित करती हैं। मिट्टी, लकड़ी और पत्थर के माध्यमों से बनी हुई ये कलाकृतियां जहां एक ओर लोक कला की देन होती हैं तहां राजाश्रय में पलने वाली कला, सोना, चांदी, हाथीदांत, चन्दन तथा बहुमूल्य रत्नों के माध्यम से अपने को मुखरित करती है।

भारतीय सज्जा शिल्प कभी राजे रजवाड़ों की और जागीरदार व तालुकेदारों के सभा भवन और महलों में पूरे वैभव के साथ जगमगाता रहा। इन राजाओं और नवाबों के आश्रय में बना हैदराबाद का सालारजंग जैसा संग्रहालय भी भारतीय सज्जा शिल्प की कलाकृतियों से भरता था। शिल्पकारों को राजाओं और धनिकों का आश्रय था, उनकी कला का उन्हें उचित पारिश्रमिक और सम्मान मिलता था। फल यह होता था कि सज्जा शिल्प का बहुमुखी विकास बराबर होता रहा। परिस्थितियों के बदल जाने के कारण इन शिल्पियों के आश्रय यदि पूरी तरह से टूटे नहीं तो उखड़ अवश्य गये। अब कम श्रम और लागत में बनने वाले मोटे काम की मांग अधिक हो रही है जिसके फलस्वरूप कला का सच्चा

विकास दिखलाने वाली कला आंखों से ओझल हो रही है, इधर राजा रजवाड़ों का संग्रह देश विदेश में बिक रहा है। इस प्रकार भारतीय सज्जा शिल्प की हमारी पैतृक सम्पत्ति अनाथिनी की भांति प्रवासिनी बन गई है और नई धारा सिकुड़ी और सिमटी जा रही है। अस्तंगत होने वाले हमारे इस वैभव को देखने का अवसर अब एक मात्र हमारे संग्रहालय दे सकते हैं पर इनमें से अधिकतर की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वे बाहर जाती हुई इन कलाकृतियों का संग्रह कर सकें। पहले जो चीजे नाम मात्र के मूल्य पर मिल जाती थीं वे अब हजारों की बातें करने लगती हैं। उदाहरण के लिए थोड़े से मूल्य में मिलने वाली हाड़ी, कमल, गिलास, झाड़ फानूस जैसे शीशे का सामान जो हमारे यहां कभी प्रचुर मात्रा में था अब हजारों से कम की बात नहीं करता। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक संग्रहालय अपनी आर्थिक सीमाओं को देखते हुए कभी कभी प्राप्त इस प्रकार की कलाकृतियां सजगता के साथ संग्रह करे क्योंकि हो सकता है कि अगले ५० वर्षों में हमारे आपके घरों में चलने वाली ये चीजें कल तक अतीत की वस्तुयें बन जांय। क्या पीतल के कामदार बर्तन, कच्चे मीना के बर्तन, चौपड़ की गोटियां और पांसे, गन्जिफायें, बीदरी हुक्के और गड़गड़े, तरह तरह के दीपक, लेखनी और दवातें, पीतल के सरौते और हाथीदांत की कंघियां, शीशम, आबनूस और चन्दन की नक्काशीदार चीजें आज के नवविवाहित दम्पत्तियों के लिए क्या अतीत की वस्तुयें नहीं बन गई हैं।

राज्य संग्रहालय लखनऊ, १०० बर्ष से अधिक पुरानी संस्था है। भारतीय सज्जा-शिल्प का कुछ संग्रह हमारे यहाँ भी है। यह सच है कि न तो वह बहुमुखी ही है और न बड़े संग्रहालय की तुलना में किसी विशेष अंग का प्रबल प्रतिनिधित्व ही करता है। फिर भी जो कुछ हमारे पास है उसे ही आधार मानकर हम अपनी विथिकायें सजा रहे हैं और उसका अध्ययन करने, नये संग्रह को करने की प्रेरणा देने तथा भारतीय सज्जा-शिल्प के विषय में अधिकाधिक बातें जानने के लिए राज्य संग्रहालय ने इस संगोष्ठी का आयोजन किया है। प्रसिद्ध विद्वान् डा० मोती चन्द्र जी के शब्दों में कदाचित् राज्य संग्रहालय, लखनऊ की यह संगोष्ठी भारतीय सज्जा-शिल्प पर होने वाली इस प्रकार की प्रथम संगोष्ठी है। हमें अपनी त्रुटियों का पूरा ज्ञान है फिर भी जो कुछ हमारे पास है उसी को लेकर हम ज्ञान की झोली को भरने के लिए आपके सामने खड़े हैं। हमें विश्वास है कि आप अपनी महानता का ध्यान रख कर हमें कुछ न कुछ ज्ञान दान अवश्य करेंगे।

आज की संगोष्ठी में हम भारतीय चित्र और भारतीय वस्त्रों की चर्चा नहीं करने जा रहे हैं। यदि सम्भव हुआ तो भविष्य में इन विषयों पर स्वतन्त्र संगोष्ठियां आयोजित की जा सकती हैं।

नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, निदेशक,
राज्य संग्रहालय, लखनऊ।

दिनांक १६ नवम्बर, १९७३

———

IVORY CARVINGS AS SOURCE OF INDIAN ART HISTORY

V. P. Dwivedi

Ivory has always had a special fascination for the artists and craftsmen because of its light weight and yellow shine. Most of the great cultures of the world have known and practised the art of ivory carving.[1] Antiquity of Indian ivory carvings goes back to Harappan times. Excavations at Mohenjodaro, Harappa and Lothal have yielded many ivory carvings In fact these Harappan sites have yielded more ivory items than stone objects. But not much attention has been paid to these articles because of their small size and easy perishability. Even when mentioned in the excavation reports, they are often without details and illustrations. These factors make their systematic study a difficult task. However, we will try to put together in this paper whatever little evidence can be gathered from the excavation reports and will examine the role of ivory carvings in Indian art history. In this process we will also take into account the epigraphical and literary references about the ivory carvings.

EPIGRAPHICAL AND LITERARY DATE

The fact that there was hardly any rigid distinction between the fine arts and decorative arts in ancient India is brought forward by the famous ivory carvers in inscription on the Southern Gateway of the great stūpa at Sānchī.[2] It mentions that the ivory carvers (dantakārāh) of Vidisha carved the figures (rupa-kammam-katam) thereon. How well they fared working in a new medium is evident from the attention to the minute details found in the stone reliefs. The small inscription on the right hand of the Pītalkhora Yaksha further strengthens this point by stating that a gold-smith carved the stone statue.[3] There are other instances also[4], pointing out that in ancient India one artist could easily work in more than one medium without any inhibition. These rigid barriers of fine arts and decorative arts are the product of modern industrialised society.[6]

Literary references throw flood of light on ivory's extensive use in architectural embellishments. We learn that by the time of the Epics the profession of ivory carvers was well organised and developed. Among a large number of guilds mentioned in the Rāmayāṇa appear ivory carvers (dantakārah) and ivory dealers (*dantopajivinah*). This shows that the professional skill of these carvers was in great demand in the society, hence this specialisation. The Epic also tells us that ivory was extensively used for decorations in the royal buildings. Rāvaṇa's palace in Lankā had ivory inlaid floors[7] and pillars.[8] The windows too were embellished with ivory.[9] We can refer that pillars and windows must have been made of wood inlaid with ivory but how it was used in floors is something beyond comprehension unless the floors in question were also wooden. But the reference certainly shows that the ivory must have been available in abundance to be so extensively used.

In Sūdraka's *Mricchakatika*, Maitreya, the Brāhmaṇa friend of Charudatta, when visiting Vasantasenā, thus describes the beauty of her inner courtyard's doorways: "Down the walls hang long garlands of jasmine that sway like the restless trunk of Indra's elephant Aīrāvata. The high resplendent archway is encrusted with ivory.[10] Bāna's *Harsacharita* tells us about an interesting and uncommon use of ivory crocodile-mouthed conduits use in the pleasure ponds.[11] The Śringāramanjarī Kathā of Sri Bhojadeva mentions an ivory balcony (*danta valabhi*), which probably means a wooden balcony with profuse ivory inlay.[12] The Mānasollāsa of king Someśvara also prescribes a balcony made of ivory for the royal palace.[13] All these references make it abundantly clear that ivory was extensively used in royal architecture in ancient times.

ARCHAEOLOGICAL DATA

It is surprising to note that whereas the Harappan ramains have yielded a number of ivory items, the Neolithic excavations at Burzhom, Chirand and other places have mostly brought forward bone carvings only.[14] This fact not only attests to the urbanity of the Harappan remains, but also points to the limited knowledge and resources of the Neolithic people of those sites If number of objects has any thing to do with popularity, ivory was much more popular in Harappan cities than stone. "Yet curiously enough, no human or animal figure has yet been found carved in ivory in the round".[15] The only human figure found at Mohenjodaro is on a flat plaque and shows a man standing holding a lance with a peculiar headdress.[16] Mackay has tried to explain this paucity by giving instances of an unfinished ivory plaque, and by saying that the Harappan workers had difficulty in cutting ivory.[17] But had this been the case, how could all the other ivory objects be carved? If the Harappan artist

could carve a vase and could embellish it with beautiful designs, he certainly could have carved the human figure too. We find animal figures carved on hair-pin tops.[18]

The long gap between the end of Harappan culture (C. 1750 B. C.) and early historical period (C. 5th cent. B.C.) is reflected in ivory finds also. Ivory articles which could be assigned to this period, are almost negligible. However, finds of small stylised ivory figurines excavated from Taxila, Rupar, Nagda, Ujjain, Prabhaspatan and Avra datable to 6th-4th cent. B.C., are most interesting.[19] Highly conventionalised, these ivory figures show simple incised strokes regularly marked in a horizontal and oblique series and a number of punches or 'dot-in-circle' motifs. When studied carefully they lead us to identify them as being anthropomorphic representation of some deity, who in all probability is mother-goddess. These widely distributed ivory finds not only show the continuation of Harappan mother-goddess cult, otherwise known only from the terracotta figurines, but also provide interesting parallels to similar finds in Iran and Egypt.[20] Some of these having holes may have been used as pendant charms as from Taxila and Rupar. The others were either worn tied in cloth or were meant to be votive offerings. In any case the aim of all such figurines seems to have been to propitiate the mother-goddess as the bestower of children, prosperity and plenty[21]. In this reference mention may also be made of a recently excavated ivory female figure found at Chanmanagar, near Bhagalpur, Bihar[22]. The figure has been blackened because of accidental firing. She has quite developed breasts, slender waist and long arms and fingers. The eye-brows and eyes have been well delineated, the nose prominent aquiline and the forehead is broad and face oval. What lends special significance to the figuring is that it is hinged at the neck, shoulder, elbow, wrist and knee. The different parts of the limbs were fashioned out of ivory pieces separately and then later screwed together at proper places. This is the only find of its type in India although similar wooden figures have been found in Egypt and West Asia. It is difficult to say at this stage whether this figure is an imported object, or fashioned after some foreign model. One thing, however, is quite obvious that it represents a mother-goddess figure and show the extension of this cult upto Bihar in circa 6th-5th century B.C.

It is surprising to note that not many Mauryan ivories have been found in excavations despite the fact that it was a prosperous period. However, literary evidence of Arthaśāstra shows that ivory was a prized item during this period and there were strict regulations about its pruning. If anybody was caught killing an elephant in the reserve forest area, the penalty was death[23].

The find of an Indian ivory at Pompeii, Italy, is a well known and published fact[24]. It shows an ivory handle carved with a charming woman standing with legs crossed. She has a broad full face with wide open eyes and fleshy mouth with soft and full lips. Her almost spherical breasts lend an effect of triumphant physical beauty. The heavy hips glide down to the massive and heavy legs, scarcely, incised with fat folds at the knees. The legs are full with anklets upto the knees. Similarly the arms are covered with heavy bracelets almost to the elbow. The right hand is touching the garland falling at the back and the left hand touches the earring on the same side. She is attended by a female attendant on either side, carved in the same piece of ivory.

Besides establishing the fact that the Indian ivory carvings were being exported to other countries in the first century B.C., the circumstances of its discovery show that it was a prized item. It was kept in a wooden box inside a wooden almirah. *Peryplus of the Erythraean Sea,* [25] believed to have been written in the 1st century A.D., further lends weight to the above theory of ivory being a favourite exportation to West.

There has been a long-drawn controversy about the identification of the female figure and its place of origin. Some scholars take her to be a Śrī–Lakṣmī [26] figure, while others think that she is nothing more than a mortal creature, perhaps a courtesan, or at the most a Yakṣī. The main difficulty in accepting the figure as Śrī–Lakṣmī is its being a mirror handle. The figures of deities are rarely drawn on objects of such utilitarian purposes. Being the toilet object, the handle is much more likely to have a charming female figure portrayed on it[27].

As regards the place of its origin, scholars generally agree to assign it to Malwa region due to similarity of its treatment with the Sāñchī bracket figures[28]. In this connection a recent discovery of a fragmentary lower portion of a similar ivory statue excavated by the Ancient Indian History and Archaeology Deptt. of Nagpur University at a place called Khekhangun, situated between Aurangabad and Ajanta, need special mention. It shows a standing female figure's lower portion flanked by two maids. Not only these maids have a marked resemblance with the maids of the Pompeii ivory, the treatment of the legs, full of anklets upto knees, also looks alike. We look forward to publication of this statue by Prof. Deo, who excavated it. It may throw fresh light on the question of origin of Pompeii figure. We should also take into account the finds of three ivory and bone female figures from Ter, the ancient Tagara. The place is mentioned in the *Peryplus of the Erythraean Sea* and can stake its claims to be an ivory manufacturing town of ancient India.

The discovery of a large hoard of ivories at Begram (ancient Kapiśā) in Afghanistan confirms the importance of trade and cultural contacts between the Indo-Afghanistan and Greeco–Roman World[29]. The excavations yielded ivory plaques from India, glass statuette, metal utensils and plaster moulds from the Near East, and fragments of Chinese lacquer of Han Period. It is believed that the ivory plaques once embellished wooden caskets which crumbled to dust. The plaques show scenes of leisured life. Subtle attitudes and rounded forms, the skilled workmanship, the type of face and details of headdress and ornaments relate these pieces to Mathurā School of art. Stein has, therefore, dated them approximately from the end of the 1st to the first-half of the 2nd cen. A.D.[30]

The plaques show variety of techniques—carvings in round, perforations and engravings. In some scenes the contours of the figures are shown with double outlines. In this connection it is interesting to note a small strip of ivory from Ujjain showing engraved cock-fighting scene. In technique, it compares quite favourably with Begram finds of similar strips having engraved scenes.

Some of the physical types seen on these plaques are also noteworthy, the nose is short and arched and the eyes are not so elongated and the hair are tied in a peculiar bun not to be seen elsewhere[31]. Could it mean that these plaques were created by Mathurā artists working at Begram and getting inspiration from the local female types ?

It can further be inferred from this big ivory hoard that the Kuṣāṇa rulers, who came from Central Asia, must have found the ivory an uncommon and interesting medium for carvings and lavished their patronage on this art. That is why we find that besides Begram many other Kuṣāṇa period sites have also yielded ivories of remarkable refinements.

Ivory has always been an expensive material and could be afforded by the rich only and normally one would think that the Gupta period, which is known as the golden period of ancient India, must have used ivory expensively. But it is surprising to find very little material by way of Gupta period ivory carvings.

As against this, the later-Gupta period which was less prosperous and politically disturbed, has left behind a number of ivories of exquisite workmanship which has come to light in recent years. These carvings have put Kashmir art[32] on a firm footing and help us draw the following conclusions: that the Kashmir region was quite a productive centre of ivory carvings during the 8th century–Lalitāditya

Muktāpīda period. But surprisingly the patronage seems to have been extended by the Buddhists only, as so far only Buddha and Bodhisattva figures have been found and none of any Hindū deity. It can further be noticed that most of the Kashmir ivory figures were in the shape of portable shrines which found their way out of that region to Tibet, Nepal and other adjoining areas through students of Buddhist philosophy and pilgrims who frequently visited Kashmir. Later rubbing and colouring shows that they were constantly under worship and came back to India after the Tibetan debacle. This shows how the political turmoils affect the art history of a region.

The foregoing discussions prove beyond doubt that howsoever small they may be in size, the ivory carvings played an important role in Indian art history and help us to fill many lacunas and strengthen theories established by other arts.

REFERENCES

1. Maskell, A., Ivories, Rutland and Tokyo, 1966.
2. Buhler, G., 'Votive Inscriptions from Sānchī Stūpas', Epigraphia Indica, II (1892), pp. 366 — 408.
3. Deshpande, M. N., in Seminar on Indian Art History, 1962, Edited by Dr. Moti Chandra, New Delhi, pp. 17-19.
4. Ibid.
5. Encyclopaedia Britanica,
   The first recorded use of the word 'Decorative Arts' dates back to 1791.
6. Rāmāyaṇa, II, 84, 13.
7. Rāmāyaṇa, Sundarkānda, 9. 22-23.

   " मणि सापानां विकृतां हेमजालविराजिताम् ।
   स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम् ॥ "

8. Rāmāyaṇa, Aranyakānda, 55, 8,

   " दान्तकैस्तापनीयैश्व स्फाटिकै राजतैस्तथा ।
   वज्र वैदूर्य वित्रैश्च स्तम्भेदृष्टि मनोरमैः ॥ "

9. Rāmāyaṇa, Aranyakānda, 55, 10.

   " दान्तकाराजताश्चैव गवाक्षाः प्रिय दर्शनाः ।
   हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासाद पंक्ततयः ॥ "

10. Mrcchakaṭika, Art IV,

    " दन्तिदन्ततोरण "

11. Harṣacharita, Eka Sānskratika Adhyayana by Dr. V.S. Agrawala.

12. Kumari Kalpalata K. Munshi, (ed.) Sringāramañjarī Kathā of Sri Bhojadeva, Bombay, 1959, p. 46.

13. Srigondekar, G. K. (ed.), Mānasollāsa of Someśvara, Baroda, 1939 II, 126.

    " दन्तिदन्त विनिर्माणमत्तवारण शोभते "

14. Dwivedi, V. P., 'Life depicted in ancient Indian ivory carvings' (under publication in the Golden Jubilee Volume of the Journal of Indian History, Trivandrum, p. 1.

15. Mackay, E. J. H., Further Excavations at Mohenjodaro, (2 Vols.), Delhi, 1938, p. 579.

16. Marshall, John, Mohenjodaro and the Indus Civilization, (3 vols.), London, 1931, Vol. III, pl. CXXXII/10.

17. Mackay, op. cit.

18. National Museum collections, antiquity no. Vs 2041.

19. Dwivedi, V. P. 'Ancient Indian Ivories - a fresh study' in Archaeological Congress and Seminar papers, Edited by Dr. S. B. Dev, Nagpur, 1972, p. 246.

20. Petrie, F., Objects of daily use, London, 1927, p. 42. pl. LV, figures 600-01.

21. Dwivedi, V. P. op., cit.

22. Sinha, B. P. 'Some rare antiquities from recent excavations in Bihar' Purātattva, No. 6, New Delhi, 1972-73, p. 71-72.

23. Shamasastry R. (Translator), Kautilya's Arthashāstra, Mysore, 1951, p. 49, " हस्तिघातिनं हन्युः "

24. Vogel, J. Ph. 'Note on an ivory statuette from Pompeii,' Annual Bibliography of Indian Archaeology, Vol. XIII, 1938, (Leyden, 1948), p. 1.

25. Schoff, W. H. (Tr.) The Peryplus of the Erythreaen Sea, London, 1912, p. 15.

26. Motichandra, 'Ancient Indian Ivories; Bulletin of the Prince of Wales Museum of Western India, Vol. 6., Bombay 1957-59, p. 25-31.

27. Dwivedi, V. P., A study of Bone and Ivory carvings in ancient India (Thesis approved for Ph. D degree at the A. I. H. & Arch. Deptt. of the Lucknow University, 1973), p. 176.

28. Marshall, J. and Foucher, A. The Monuments of Sānchī (3 vols), Calcutta, 1931, Vol, II, pl. XXXI.

29. Hackin, J. and Hackin, M. J., Recherches Archaeologiques a Begram (2 vols.) Paris 1939, and Hackin J. and others, Nouvellars Recherches Archaeologiques a Begram (2 vols), Paris, 1954.

30. Ibid (later), Vol. I. P. 54.

31. Dwivedi, V. P., (Thesis), pl. XXXII, 9.

32. Dwivedi, V. P. 'Kashmir Ivories' 'Chhavi' Golden Jubilee Volume of Bharat Kala Bhawan, Varanasi, 1971, pp. 322-326.

Late Dr. V. P. Dwivedi, Keeper, National Museum of India, New Delhi–11.

This bright scholar met a fatal accident on May 3, 1980 at the young age of 44. His thesis referred to here was published under the title INDIAN IVORIES in 1976 by the Agam Kala Prakashan, Delhi.

Editors.

THE FUNCTION OF DECORATIVE ART

P. C. Little

Before we go into the detail of discussing the functional values of any particular branch of art, we have first to realise that the subject of art criticism does not any more honour the nationwise boundaries. We have almost reached the stage of "the universal art of One-World-Culture"[1]. Decorative art in particular, being of universal nature, needs to be considered in a broader perspective than mere subcontinental or continental context. We have also to keep in consideration that the concept of art is subject to change in relation with the social attitudes. The symbol of Mother Goddess is no more the carpulent female figurine; the cult of fertility has migrated to laboratory test tubes.

Unfortunately, the term "Decorative Art" in itself is a point of contention. A thing could be decorative only in relation with its setting. Out of its context[3] a piece of art could only be considered a single page out of a book. What, in fact, we are considering is the 'ornamentation' that is added to the objects of art. As these ornamentations are 'applied'[4] as secondary accessories to an existing form, it rather be termed as 'applied-art' and not '*Decorative Art.*' The mere application of this term in itself elliminates the accumulation of various confusions.

The function of these ornamentations is the same as that of punctuations in a sentence or of "Alankaras" in a piece of composition. The punctuations emphasise the actual content of the sentence and the *alankaras* make it more palatable and explicit. Coincidently in Sanskrit the word '*alankara*' is used both for decoration as well as for the figure of speech. Anyhow, the appearance of profuse ornamentation on objects of daily use, arms and musical instruments, etc. is nowhere just ornamentation for ornamentation's sake. As stated by Dr. Coomaraswamy–"art and prudence equally are means that must not be mistaken for ends.[5]"

One of the earliest decorated object of utilitarian value, that I have come accross so far, is a 'spear–thrower' of Prehistoric times from Mar D' Azil, France. These spear-throwers, used at that time, were usually made of wood or bone in the form of a handle with hooked end, making the throw more effective. This particular thrower has been neatly carved out of bone, hook end of the handle has been given the shape of a nicely chiselled 'black–cock; the tail of the bird forming hook for the spear.[6] Even though the piece has been given the epithet of 'creative design' should the appearance of this bird on top of the spear thrower be taken as mere decoration out of aesthetical reasons, is highly questionable. We cannot overlook the fact that the artist of the time was a magic man, high priest and, perhaps, also chieftain of the tribe; art was his ritual. It was full of meaning and purpose. For example there is a cave drawing of Magdalenian Period in Lauscaux cave of France. It realistically represents a dying bison wounded in a hunt.[7] In front of the bison there is a 'symbolic' line-drawing of a human figure lying dead; also a spear, a spear-thrower and a bird perching on a twig. This drawing has been identified by the scholars as a story representing "death of a hunter".[8] Conversely, had it been so, the human figure also would have been '*realistic*' to represent an individual rather than 'symbolic' of man in general. Besides, various other factors also give some other–wise indications. The man is wearing a bird-like mask with his organ in erect condition[9] and finally a too conspicous appearance of the bird. The art of these people was believed by them to carry 'sympathetic-magic' and was part of magic rituals. Consequently the dead figure could signify 'death' in general, and the bird must have been used as some kind of 'totem' to assure success in hunt or as a 'talisman' of good luck and protection against casualities during hunt. Considering the erect organ of the man, the painting could also have been part of some ritual for further propagation of hunted animal's race, preceded by a fear of its extinction. Bird in some prehistoric cultures has been associated with fertility cults.[10] Keeping in view the 'magico-religious' nature of this art, the appearance of the bird on the spear-thrower, almost in the same posture as in the drawing described above, could certainly be taken as something more than mere decoration; probably a totem of some kind, particularly so when both the pieces belong to the same period and place.

Another such object that we come across is from the hoard of multi-spouted clay vessels, probably belonging to pre-christian era, discovered at Maniyar Math in Rajgiri. Obviously considering the shape of the vessel the multi–spouting does not go well functionally, at the same time the appearance is too unveildy to be called decoration. As the pots have already been identified as used in 'nāga' worship, the typical ornamentation bears a ritualistic origin.[11] It will not be out of place to mention that, whereas the vases of daily use will be found in plentiful having no decoration at all, the absence of decoration is a rarity in objects of ritualistic nature, and the constant repetition of such evidences reduces the early principles of art to theology.[12]

Obviously the above doctrine may lead us to believe that, leaving aside the 'art of theological origin' there are other objects that are purely of decorative nature. It, however, does not mean that they contain decoration for decoration's sake. As propounded by Dr. Coomaraswamy "art for art sake" is a fallacy in the same way as "virtue is its own reward." According to him the proverb"—– is actually in direct opposition to all the orthodox teachings where it is constantly and explicitly affirmed that virtue is meant to an end and not itself an end[13].——." He further states"---- from stone-age onwards, everything made by man —— has been made by art to serve a double purpose, at once 'utilitarian' and 'ideological'[14] Calling an object as 'decorative' places it purely on aesthetical grounds which ultimately defies its highest function"--to express and to communicate."[15]

Besides aforementioned 'theological' or spiritual origins, these ornamentations also originate out of psychological reasons described by Herbert Read as 'Horror-vacui.[16] Human beings do not have a capacity to tolerate a blank space, and every such space compels the man to seribble something. This uncontrolable urge, however, in no way should lead us to seribble indiscriminately: no matter how ornamental it appears. The real justification of such ornamentation should be to emphasise the form, and the form being subject to 'function' and the ornamentation should contribute towards it and not against it.

Another function of these ornamentations is to camouflage the flaws inherent in the material used or the manufacturing process. For example, while using wood for wall panelling the *veneir* matching and repition of joining pattern is used to produce visual harmony and rythm. The carefully planned venier pattern in itself becomes an 'ornament'; in absence of which the huge wall panelling will give an anarchical look.

A further function of such decorations is to supply for the biological necessity,[17] for art has become an indirect food for spiritual needs. It acts as a preventive against emotional imbalance through its harmony rythm and balance. It is, however, a matter of concern that the term of 'Decorative-Art' has lead us to associate it solely with profuse ornamentation, and even obnoxious ornamentation becomes a deciding factor if a piece is to be called 'Decorative'. It could, however, be so only if 'mascara' and 'lipistic' were to become the only elements of womanly beauty, the deciding factors of the feminine charm.[18]

As inferred by Herbert Read the body painting and tatooing amongst savage races was perhaps due to 'horror-vacui.[19] I, however, beg to differ from him at this point. There is a term in zoology called 'mimetic adaptation'; the changing of colour

and adaptation of bodily pattern by various species of lower animals. This adaptation lets them camouflage selues in their natural surroundings, and they use it to their advantage as offensive or defensive weapon. Butterflies, reptiles and panthers, etc., are the few examples of such bodily colour pattern. It is quite probable that the primitive 'Hunts-man' adapted this body painting from panthers and tigers, etc., to hide themselves in wild surroudings as defensive weapon. Gradually every clan or tribe developed its own style and pattern as a mark of identification, at the same time the extent of decoration becoming individuals social status. It is not a remote possibility that the individuals body-painting pattern was later transferred to burial urns, etc., after his death. No doubt that we do find some kinship of forms between body-painting and decoration of other house wares.

Man's early attempts at socialization were towards the implementation of orderliness in every sphere of life, and no less so in his working process. In primitive art the regularity of forms and evenness of surface are essential elements of decorative effect, and these are intimately associated with the mastery over difficulties.[20] "Making by hand is making with joy"[21] might have been the anthem of 19th century, but it must have prevailed even during prehistoric times when "Technical experience and the acquisition of virtuosity[22] became propagators of plane, straight lines and regular curves as circles and spirals, etc; the basic elements of decorative nature. These forms, otherwise having a rarity of occurance in nature, did not have an opportunity to impress themselves upon the primitive mind. Quite obviously their over abundance in primitive decoration could only mean the "exhibition" of technical vertuosity. It is not a mere coincidence that the root of Sanskrit term 'alankāra' is 'all' meaning 'to be compitent.[23]

Another biproduct of the 'technical vertuosity' is the persistence of 'symmetry', the principal element of objective decoration. The stone-age artisan chipping his stone implements developed his skill to a particular level where he could induce the chipping with a constant regularity and symmetry; and his implements started looking more like what they were meant for than mere pieces of stone. They were better to look at and more effective too. It is, however, quite obvious that more of his efforts were directed towards making a perfect tool rather than its aesthetical impact. The aesthetical impact was, thus, the biproduct of an artful utilization of an inevitable and inherent 'flaw' of manufacturing process; in the same way as it is carried out today by Indian craftsmen though decoratively arranged hammer marks on brass utensils. Originally 'art' meant "Skill in performance acquired by experience, study or observation"[24] and the Indian terms used to represent it were *'kala'* and *'shilpa'*[25] which is very much in corroboration with above thesis.

The principle of 'symmetry' was followed by another element called 'rythmic-repition'[26] again a biproduct of manufacturing process, which asks us to revive the Indian brass utensils with rythmic repition of hammer marks; almost issuing an audible impact.

The only decorational element thus left is the decoration that is added as an emphasis to the form, even that, though, sometimes occurs due to technical process. Marginal patterns[27] occur where a woven basket is finished off, or the rim of the thin metal sheet utensil is rolled down to add strength. Sometimes, this 'marginal-set off' is not only used simply to accentuate the form but rather develops into a highly decorative band. These bands acting as determinants, in combination with the *natural* divisions of an object, become guidelines for further decoration. Obviously this natural outcome of technical process becomes carried over even where 'marginal-setoff' or strengthening is not necessary. At such times this decoration remains purely an accentuator of form. Use of profuse ornamentation to emphasise the important limbs of an object[28] like handle and spout, etc., is also common. Once, however, these places have been elaborated, it becomes imminent to balance other areas with specs of decorations. But the original purpose of these ornamentations was 'differentiation' of various limbs for practical reasons, and they were designed and decorated accordingly, otherwise, keeping in consideration the principle of symmetry, the spout and handle could have been designed identically, but every time the user would have had to fiddle for sometime to find out which one is handle and which one spout. It is only for this reason that they have been differentiated considerably. This differentiation from each other for practical reason was the fundamental of designing and the stylization was a way of doing it.

Even though, under aforementioned conditions, ornamentation is an outcome of 'technical motives' and rules 'purposive-domain', a fundamental aesthetic interest is essential and expressive of man's cultural attainment. The way the style and extent of body painting became expressive of individual's position in the tribe, being surrounded by profusely ornamented objects became expressive of man's social status in civilized society, an emblem of luxury. For example Asvaghosha in *Buddha Charit.* while describing Gautama surrounded in luxury, says" soft music came from the 'gold-edged' *tambourines.*[29] The gold ornamentation has nothing to do with the notes of music, but it has been referred here only as an emphasis on luxury. What originated as man's effort towards 'being-skillful' ('kuśala' or 'silpa viśārad)[30] gradually transmigrated towards application of art as aesthetical virtue. Art itself became a function to be performed in a ritualistic manner; 'means to an end' became an end in itself to be misnomerly addressed as 'Decorative Art'.

The application of art to the objects of, otherwise, functional nature, originating as expressive of man's cultural state, is now pressed for a constant change depending on the needs of society. If we are to consider under 'decorative art' merely the objects of ornamental nature, we will be termed as living in an "art-less society." But it is not so. The sensible forms, in which there was at first a polar balance of the physical and metaphysical, have been more and more voided of content on their way down to us, and so we say this is an ornament."[31] We look at other objects with disregard in the absence of that, so called, 'ornament'. To quote Dr. Coomaraswamy, "Art is concerned with the nature of things, and only, incidently, if at all with their appearance." Today, nature of every thing has been reduced to chemical analysis and mathematical formulae, and so is the art, in the same way as the art of early times was reduced to 'theology'. In the beginning I insisted on using the term *'applied art'* because art can not only be applied as ornament but also in its essence as a *'mathematical formulae'*.[32] Even a thing without ornamentation could be as 'decorative' as a highly ornamented one. In this regard, what comes into effect is 'relative proportion', the mathematical formulae of relation between the volume of the object and its widest part in relation with the proportion between its widest part and narrowest part, etc., Art today is a 'way of life' in the same way as *'tantra'* and *'yoga'* used to be once. The function of early art was 'magico-religious', religion of today is 'ethics' and magic of today is 'mechanization'. Today's 'decorative-art' is *'Stylization'* and it should go well with our ways, that is its highest function.

FOOTNOTES

(1) Dr. Mulkraj Anand; Letter to the Editor, Times of India Jan. 1971.

(2) Read, Herbert; Art and Industry, p. 40.

(3) Coomaraswamy, Dr. A. K., Christian and Oriental Philosophy of Art, p. 19.

(4) Read, Herbert; Art and Industry, p. 40,

(5) Coomaraswamy, Dr. A. K., Christian and Oriental Philosophy of Art, p. 51.

(6) Myron, Robert; Prehistoric Art, p. 31.

(7) Myron, Robert; Prehistoric Art, p. 23.

(8) Ibid.

(9) Ibid; p. 14; also History of Mankind, vol I; p. 203 (Hawks & Wooley).

(10) Hawks and Wooley; History of Mankind, vol. I; p. 338.

(11) Rajgiri, Guide Book; Archaeological Survey of India, Pl. VI/A.

(12) Coomarasway, Dr. A. K., Christian and Oriental Philosophy of Art, p. 41.

(13) Ibid, p. 96.

(14) Ibid, p. 92.

(15) Ibid, p. 92.

(16) Read, Herbert, Art and Industry, p. 40; also Piggot, 50, Prehistoric India, p 102.

(17) Read, Herbert; Art and Industry, p. 30.

(18) Read, Herbert; Art and Industry; p. 41.

(19) Ibid; p. 40.

(20) Boas, Franz; Primitive Art; p. 25.

(21) Ibid.

(22) Ibid.

(23) Manier Williams; Sanskrit-English Dictionary, p. 85.

(24) Websters Collegiate Dictionary; Fifth Ed; p. 448.

(25) Boas, Franz; Primitive Art; p. 40.

(26) Coomaraswamy, Dr. A. K., Transformation of Nature in Art; p. 179.

(27) Boas, Franz; Primitive Art; p. 55.

(28) Boas, Franz; Primitive Art; p. 60.

(29) C F. Conze, Edwards; Buddhist Scriptures, p. 38.

(30) Coomaraswamy, Dr. A. K., Transformation of Nature in Art, p. 99.

(31) Coomaraswamy, Dr. A. K., Christian and Oriental Philosophy of Art, F. N. 27. p. 56; c.f. Andre, W.

(32) Read Herbert, Art and Industry, p. 35.

Sri P. C. Little, Lecturer, Arts Degree College, Lucknow.

LECTURES HELD IN THE STATE MUSEUM, LUCKNOW DURING THE YEAR 1981-82

No.	Lecture	Speaker
1.	New Light on Copper Age in India	Dr. S. P. Gupta, New Delhi.
2.	Protection of Environment	Dr. Hartmut Kanappe, G. D. R.
3.	अजन्ता की चित्रकला और उसका संदेश	श्री रमेश चन्द्र शर्मा, लखनऊ।
4.	Science of Writing-Its Origin & Development	Sri Ishwar Chandra Rahi.
5.	हिंगलाजगढ़ की मूर्तियों के पौराणिक अध्ययन	डा० एन० पी० जोशी, वाराणसी।
6.	Homage to Late Prof. Ray and A. Ghosh	Sri R. C. Sharma, Lucknow.
7.	Folk Art Traditions in India	Mr. Stephen P. Huyler, London.
8.	Knowledge Emits from Museums of Australia	Miss Sue Walston, Sydney.
9.	मध्य भारत के प्रतीहार युगीन मन्दिर	श्री राकेश दत्त त्रिवेदी, भोपाल।
10.	Nature in Jahangir Miniatures	Dr. Govind Bihari Lal Sharma, Aligarh.
11.	Gita Govinda in Painting and Poetry	Dr. Barbara S. Miller, U. S. A.
12.	Art in Early Coins of India	Dr. B. N. Mukherjee, Calcutta.
13.	Role of Museum in Education in the Third World Countries	Dr. M. K. Gautam, Holland.
14.	मानस में कला एवं शिल्प	श्री उमा किंकर व्यास, वाराणसी।

SOME ASPECTS OF THE STUDY OF BEADS

S. B. Deo

In spite of abundant archaeological and literary data the fact remains that the various facets of art of bead-making in ancient have not yet been systematically studied. Indeed it is rather unfortunate that scholars do not seem to have yet realised sufficiently that like several other catagories of archaeological data, beads—their techniques and typology—have a potential dating value. Apart from this, the study of beads reveals different stages of technological development and limitations of that particular period or community with which they are associated.

The use of beads for different purposes but basically for ornamentation has a hoary antiquity. Even in primitive societies the wearing of a series of strings of beads indicated the social status of the wearer. In course of time, even in advanced and civilized communities the importance of beads was recognized as indicative of religious, economic, magical or technological status. For instance, some of the distinctively shaped beads, pendants and amulets imply the magico-religious ideas prevalent in those communities. Unfortunately, such a study has not so far been attempted. This paper aspires to emphasise the various aspects of the study of beads which have so far been neglected so that beads could form a very viable norm for dating purposes and cultural studies.

The various types of beads, pendants and amulets sometimes imply religious considerations of a particular community. For instance, some pendants are fashioned after Buddhist symbols. Some others are of the shape of tiger's claw, whereas some others are shaped after universal religious symbols like those of *Swastika*. The most remarkable case is that of eye-beads which have a fair antiquity. All these types indicate the religious traits and often imply some superstition. The case in instance is that of frog amulets which were definitely associated with ideas of fertility. It may

be recalled here that Atharvaveda refers to the frog charm for curing fever. It may also be recalled here that mediaeval texts refer to the use of Jade for insuring relief in bodily pain.

As mentioned earlier, the material of which beads are made is also indicative of social status of the person wearing them. For instance, beads made of a very rare material like lapis tend to indicate the economic prosperity of the person. In the proto-historic child burials had Nevasa, some burials contained necklaces of copper beads woven in flax and silk threads whereas several others had only beads of less costly materials like steatite.

The technological advance as indicated by the various types of beads is evidenced in the method of making certain beads. For instance, method of perforating a bead, polishing it, tinting it, etching it, cementing it, implies the technological advance as also the division of labour and specialization in that particular art. The case in instance is that of glass beads which in early historic and mediaeval periods display a variety of techniques like moulded glass, blown glass, wire-wound glass, swirld glass. All these when studied in proper context give sufficient cultural and technological information.

Technological aspect : Beads found in various excavations in different parts of India have shown different techniques being in vogue in different periods. For instance, ancient Indian beads specially of semi-precious stone have a double perforation executed half way from both the ends. This implies the limitations of the use of drills. Short chert drills have been reported from Chanhudaro. Evidence of furnaces for heating and tinting of beads has been reported from proto-historic Lothal and historic Ujjain. So far as the polishing of beads is concerned, it is not known how it was done, so far as the proto-historic period is concerned. However, coming to the historic period it appears, from parallels from Cambay, that beads were rotated in barrels along with fine sand or emery powder. The most noteworthy technique in respect of Indian beads is that of etching a pattern on the surface of an agate or carnelian bead. This technique goes back to the period of the Indus Valley Civilization and continues even in mediaeval period. As is well known, three different processes were practised to have the necessary pattern. The use of alkaline material or a solution of iron or manganese compound was made for having the necessary pattern either in white or in black. Similarly, the glazing of faience beads was current in proto-historic and early historic periods. It seems to have died out definitely after the 2nd-3rd century A. D. Another type important from the point of

view of technological study is the cemented eye beads which again do not survive after the Gupta period. In the Indus Valley, small lime-stone discs were used in such beads. Another technological important specimens is that of the glass beads with a gold foil. These beads seem to have been current mostly in the Sātavāhana period.

In respect of the use of distinctive material it is significant to note that steatite and faience have a great preponderance in the Chalcolithic period. Semi-precious stones like agate and carnelian which are found in abundance in the Deccan trap might indicate cultural contact between the Deccan and the Gangetic Valley. The latter must have been importing the material from the Deccan.

Typology and dating : Apart from certain features indicative of technological peculiarities restricted to certain regions or periods, my studies have given me sufficient evidence to propose that certain types of beads can be firmly dated. However, there are certain limitations on generalizations because of the fact that the archaeological reports several times describe a bead wrongly and the material is also identified wrongly. For instance, a lot of confusion has taken place in identifying different types of glass beads. Similarly most of the archaeological reports give relative dating, as for instance period II or IIIa. This is a great handicap for assigning certain bead types to correct dating.

My studies have shown that certain shapes are common to certain periods. For instance, long barrel cylindrical beads are a fossil type of the Indus Valley, whereas the standard barrels are not available after the Gupta period. The hexagonal barrel can be dated mostly from Maurya to Gupta period, but are totally absent in proto-historic period. Another type i. e. flatened barrel hexagonal is entirely absent in the proto-historic period. The square barrel is restricted between 3rd century and the 5th century A. D. levels. The triangular barrel is typically a Maurya-Sātavāhana type whereas the lenticular barrel goes out of use after the 3rd century A. D. The collared barrels which are totally absent in the Indus Valley are abundant in the Maurya-Satavāhana levels. Between the lug-collared and the incised collared the latter are earlier in date than the former.

In cylindrical beads, the long cylinders are typically Indus Valley types, but the square cylinders are restricted to 1st century B. C. and 2nd–3rd century A. D. Similar is the case with hexagonal cylinders and collared cylinders.

The biconical beads are fossil types of the Maurya period, whereas bicone square is not reported so far earlier and later than the Maurya-Satavāhana period.

Similar observations can be had in respect of certain other types. For instance, the tablet shaped beads are typical of the Sātavāhana period. On the other hand, the segmented beads show an erratic distribution. For instance, they are reported from the Indus and other proto-historic cultures but are totally absent in the Mauryan period. Surprisingly, they re-appear from the 1st to the 5th century A. D. There are certain beads which, on the other hand, run through a very long period. For instance, the *arecanut* and the toggle beads run through the proto-historic and the historic periods and are useless in dating. They can be referred to as ageless.

Peculiarities of glass beads : The study of glass beads in India is quite interesting. It is held that no true glass was known to the Indus Valley period. It may be noted that clearcut distinctions between true glass, glaze, frit, is not uniformly followed in India. In spite of this, certain glass beads can be very well dated. For instance, the red on white glass, the Venetian beads, or opaque straitified copper glass, or cylindrical beads of blue glass with an oblique white band can safely be assigned to Satavāhana sites of the Deccan. Certain imported techniques like the millefioric glass or swirled glass or the lace glass, all coming trom Taxila, can be put to 1st and 2nd century A. D. and may be assigned to a foreign inspiration.

A word in respect of polychrome glass will not be out of place here. It has been believed by a number of scholars that this type of glass was introduced by the Muslims in India. However, the evidence from a number of sites in Gujrat and Maharashtra has pushed back the antiquity of this type of glass prior to the Muslims.

Amulets and pendants : Similar observations in respect of amulets and pendants can be made. It has already been stated that these were associated with religious or magical significance. The amulets and pendants have been executed in

a variety of shapes like religious symbols or animals or shapes of parts of human body or leaves of trees. The *Srivatsa* and the *Swastika* amulets can safely be assigned between 1st century B. C. and 2nd century A. D., whereas the *Triratna* amulet was in vogue mostly in the Maurya-Sātavāhana times. It may also be noted that carne-lian was the most favourite material for this amulet. The lion and the bull amulets, which have a very wide occurrence, restricted themselves to Maurya–Sātavāhana times. The tortoise amulet is not reported prior to the 1st century B. C. and goes out of use after the Gupta period. The *pipal* leaf amulet has been profusely reported from mostly the Sātavāhana sites.

It will thus be seen that the study of beads can be useful from several point of view. If, however, well documented data is made available, further studies in respect of beads are bound to be rewarding.

Dr. S. B. Deo, Director, Deccan College Research Institute, Poona.

मणि मनके और प्रभाव

गारुत्मतं मरकतमश्म गर्भो हरिन्मणिः ।
शोण रत्नं लोहितकः पद्मरागोऽथ मौक्तिकम् ।।
मुक्ताऽथ बिद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्न पुंसकम् ।
रत्नं मणिर्द्वयोरश्म-जातौ मुक्ताऽऽदिकेऽपिच ।।

(अमर कोश वैश्य वर्ग ९. ९२-९३)

मुक्ता विद्रुम वज्रेन्द्र वैदूर्य स्फटिकादयः ।
चक्षुष्या मणयः शीता लेखना विषसूदना ।
पवित्रा धारणायाश्च पाप्मा लक्ष्मी मलापहाः ।।

(सुश्रुत सूत्रस्थान, अध्याय ४६)

हर्षचरित में अलंकरण कला

गिरीश चन्द्र शुक्ल

भारतीय अलंकरण कला की अक्षय्यनिधि प्राचीन भारतीय साहित्य में सुरक्षित है। इस तथ्य के आलोक में कलाबिदों का विचार है कि भारतीय कला विश्व में सबसे अधिक समृद्ध है किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि कलाकार अधिकांशतया साहित्य को उपेक्षित किये हुए हैं। कहना न होगा कि आज के तथाकथित असाधारण आधुनिक (एक्सट्रा माडर्न) लोग कालिदास तथा वाणभट्ट आदि की कृतियों को पढ़ना तक भी पसन्द नहीं करते हैं। वाग्देवतावतार वाणभट्ट प्रणीत "हर्षचरित" अलंकरण कला से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। हर्षचरित में आइवरी के कुछ प्रकारों का भी वर्णन मिलता है जो अत्यन्त चित्ताकर्षक एवं चौंका देने वाला है। जलहस्ती या जलभ जिससे प्राप्त आइवरी को आंग्ल भाषा में "वालरस आइवरी" तथा फारसी में शिरमाल कहा जाता है का उल्लेख प्राप्त होता है। यह कहना अप्रसांगिक न होगा कि सैंधव सभ्यता से ही हाथी दांत की वस्तुयें लोगों के आकर्षण की केन्द्र थीं। १.०५"×४" के हस्ति दन्तफलक पर उत्कीर्ण कट्यवलम्बित हस्तमुद्रा में स्थित पुरूषाकृति उत्खनन में प्राप्त हुई हैं। रघुवंश में हाथीदांत द्वारा निर्मित सामग्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रारम्भिक काल में हाथीदांत का उपयोग घुड़सवार की एड़ (स्पर), जीन या काठी (सैंडिल्स) तथा राजाओं की शय्याओं आदि के जड़ने में हुआ करता था, इस शिल्प का विशेष विकास १७वीं, १८वीं शताब्दियों में केरल, मैसूर तथा विशाखापटनम् (आन्ध्र) में महाराजाओं के प्रश्रय से हुआ। हाथीदांत के बने ट्रावन्कोर के महाराजा का सिहासन तथा मैसूर के इसके बने कास्केट विशेष प्रसिद्ध हैं। उल्लेखनीय है कि हर्षचरित में हांथीदांत के बने दाँतशफरूक (मंजूषा) आदि का वर्णन निस्संदेह कलागत प्रतीणता की स्पष्टीकृत करते हैं। मोतियों तथा मणियों या पत्थरों के बने आभूषणों के विभिन्न प्रकारों का सविस्तार उल्लेख बाण बड़ी सूक्ष्मता एवं सत्यता के साथ करता है। साहित्य में हस्ती, सर्प, शुक्ति (सीपी), शंख, मेघ, वेणु तिमि (मत्स्य विशेष) तथा सूकर आदि से मोतियों के प्राप्त होने का वर्णन प्राप्य है। इसी प्रकार पद्मराग (रूबी), माणिक्य (रूबी के समान), स्फटिक पुण्यराग (क्रिस्टल स्टोन्स), मरकत (इमेराल्ड), वैदूर्य (लापिसलाजुली)

विद्रुभ (कोरल) तथा प्रवाल (विद्रुभ का एक प्रकार) तथा नीलम (इन्द्रनील, महानील)–क्षीरमध्ये नीलं यदाक्षिप्यते तदा दुग्धं नीलतां व्रजेच्चेत् तत् इन्द्रनीलभित्युच्यते–सनातनविज्ञानसमुदाय–पृष्ठ–११० । आदि के आभूषणों का वर्णन वाण ने बड़ी गवेषणा के साथ किया है। इसके अतिरिक्त उसने स्वर्ण, रजत, एवं ताम्र निर्मित आभूषणों के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करने के साथ ही रांगे के बने आभूषणों का भी चित्रण प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय तथा कतिपय आधुनिक कलाकृतियों में प्राप्त होने वाला अलंकरण "हर्षचरित" से बहुत कुछ साम्य रखता है।

सम्राट हर्ष के समृद्ध राज्यकाल में अन्य कलाओं की ही भांति अलंकरण कला का भी अभूतपूर्व विकास हुआ। वाण को ऐसे सम्राट के दरवारी कवि होने का सौभाग्य प्राप्त था, फलतः उसे सभी गतिविधियों को देखने का अत्यन्त समीप से अवसर उपलब्ध था तत्कालिक अलंकरण कला का राजीव स्वरूप हमें चतुर चितेरे कवि वाणभट्ट की अनुपम कृति "हर्षचरित" में दृष्टिगत होता है।

प्रथम उच्छ्वास में सरस्वती का चित्रण करते हुए उल्लेख किया है कि उनके शरीर का मध्यभाग मेखला से अलंकृत था तथा वांया हाथ कटिभाग में उपस्थित था। उल्लेखनीय है कि शुंगकाल से मध्यकाल तक भारतीय मूर्तियों में कट्यवक्तंवितं वामहस्त मुद्रा का चित्रण निरन्तर होता चला आया है। साथ ही सरस्वती का कंठ भाग मोतियों द्वारा निर्मित हार से लसा हुआ था। तथा उसके बीच में मध्यमणि गुंथी हुई थी। वाण ने दुर्वासा का चित्र खींचते समय मकरिका नामक आभूषण का वर्णन किया है। दो मकरमुखों को मिलाकर पत्तियों सहित पुष्प के साथ बनाया हुआ आभूषण मकरिका कहलाता था। गुप्तकालीन मूर्तियों के मुकुट में मकरिका का चित्रण प्रायः प्राप्त होता है, इसके अतिरिक्त उन्होंने सावित्री को शंख निर्मित अंगूठी पहने हुए तथा अन्य संदर्भ में हांथीं दांत के बने मकरमुखी बनालों, का उल्लेख किया है जो अधिकांशतयः मन्दिरों आदि में लगाये जाते थे। गुप्तकाल अथवा वाद में लिखे जाने वाले पुराणों में षोडस महादान के अन्तर्गत सप्त समुद्र महादान की कल्पना जोड़ी गई। हर्षचरित के अनुसार उस समय भी विदेशों (द्वीपान्तरों) से व्यापार कर प्रत्यावर्तित व्यापारी गण सवा पाव से लेकर सवा मन तक स्वर्ण निर्मित सात समुद्र रूपी सात कुन्डों का दान करते थे। सैनिक गणों के वर्णन के विषय में वाण कहता है कि फौजी जवान झुमके की तरह कपोलों के पास लटकते हुए कानों में हाथीदांत के बने पत्ते पहने हुए थे। तथा बांयें हाथ में सोने का कड़ा सुशोभित था जो वाण के शब्दों में "हाटक कटक" है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार :—

"यह कड़ा कुछ निकलता हुआ या ढीला होता था जो संभवतः छैलपन कीं निशानी थी।" नीले घोड़े पर आरूढ़ सेनापति के साथ चंवर डुलाते हुए परिचारक गण थे। सेनापति के सिर पर एक छत्र शोभायमान था। इस छत्र के चारों ओर मोतियों की झालर (मुक्ताफलबालमालिना) तथा बीच–बीच में रत्न जड़े हुये थे। कानों में त्रिकंटक नाम का आभूषण पहने हुए था। हर्ष के समय नर-नारी दोनों में इस गहने के पहनने का आम रिवाज था।

सम्राट हर्ष के जन्मोत्सव के उपलक्ष में नृत्य करती हुई स्त्रियां त्रिकंटक[1] धारण किए हुये थीं। हर्ष का ममेरा भाई भण्डि भी त्रिकंटक[2] पहने हुये दिखाया गया है। इस आभूषण का निर्माण दो मोतियों के बीच पन्ने का जड़ाव करके हुआ करता था। स्मरणीय है कि डा० वासुदेव शरण अग्रवाल को त्रिकंटक नामक आभूषण प्राप्त हुआ था जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में सुरक्षित है।

घोड़े के मस्तक पर स्वर्ण का पदक (आभूषण विशेष) तथा गले में स्वर्ण की मालायें पड़ी हुई थीं। मालती नामक एक सखी के आभूषण भी वर्णनीय हैं। उसके कटिभाग में एक करधनी थी। गले में आंवले जैसे मोतियों का हार अवलम्बित था। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार– "यह नौ बड़े मोतियों का एक कण्ठा था जो ग्रीवा से सटा हुआ पहना जाता था। मथुरा में इस प्रकार का कण्ठा शुंग कालीन मूर्तियों पर ही मिलने लगता है। उसके वक्षस्थल पर रत्नों की बनी हुई प्रालम्बमाला[3] स्तनयुगलों पर्यन्त लटक रही थी। इसमें रक्त और हरितमणि एवं पन्ने जड़े हुये थे। एक हाथ में स्वर्ण कटक था जिसके मकरमुखी शिरों पर पन्ने जड़े हुये थे। मकरमुखी इस आभूषण का उल्लेख हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं। कर्णों में बालियां पहने हुए थी जिसमें मौलसिरी के पुष्प की भांति तीन-तीन पत्तियां जड़ी हुई थीं। मस्तक पर सामने सीमन्त (मांग) से लटकती हुई चटुलातिलक[4] नामक मणि थी, उसके अतिरिक्त मालती के केशों में चूणामणि मकरिका नामक आभूषण लगा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि वाण को मकरिका नामक आभूषण विशेष प्रिय था, उसी कारण उन्होंने हर्षचरित में अनेकशः उल्लेख किया है।

द्वितीय उक्षवास में वाणभट्ट ने सफलोत्तर पथनाथ सम्राट हर्ष, की चतुरंगिणी सेना के विविध अंगों का वर्णन प्रस्तुत किया है, जिसमें उसने इनके सजावट (शृंगाराभूषण) की भी विस्तृत रूप से आख्या की है। हाथियों को ध्वज, चंवर, घंटा, अंगराया तथा नक्षत्र माला आदि से सजाया जाता था, सम्भवतः नक्षत्रमाला मोतियों द्वारा बनी रहती थी, जो हाथियों के मस्तक के चारों ओर अलंकृत रहा करती थी, जिसमें अनुमानतः २७ मोती गुंथे हुये रहा करते थे। दांतों पर सोने के चूड़े मढ़े हुए थे। उसके अतिरिक्त वाण ने सोने से जड़ी हुई हाथीदांत की शृंगारमन्जूषा या आमरण मेटिका (सकांचनप्रतिम) का भी उल्लेख किया है उनके दोनों कानों के समीप शंखनिर्मित आभूषण (करिकर्णशंख या अवतंस शंख) लटक रहे थे। स्कन्धावर में स्थित ऊंट भी हाथियों एवं घोड़ों की भांति सूषित किये जाते थे उनके मुखभाग पर कौड़ियों की पट्टियां तथा गले में स्वर्ण निर्मित ध्वनि करने वाले घुंघरूओं की माला सुशोभित थी। साथ ही छत्र और चंवर स्कन्धावर में अद्वितीय शोभावृद्धि कर रहे थे। सफेद छत्र (श्वेत आतपत्र) मोतियों की झालरों से युक्त थे। इन छत्रों पर गरुड़ के खुले पंख तथा राजहंस की विधि आकृतियां उत्कीर्ण थीं, उन पर माणिक्य खण्ड लगे हुए थे तथा छत्रों के विद्रुम (कोरल) के बने हुए थे।

१— उद्भ्भानधवलचा पर सटालग्न त्रिकण्टकवलित विकटकटाक्षाः।

२— त्रिकण्टक मुक्ताफलालोकधवलित।

३— कुवपूर्ण कलशयोरूपरिरत्न प्रालम्बमालिकाम्।

४— ललाटलासक सीमन्त चुम्बी चटुलातिलकमणि।

जहां तक राजकीय सन्निवेश में विद्यमान रत्नों का प्रश्न है, हर्षचरित के अनुसार मरकत, पद्मराग इन्द्रनील, महानील, गरुड़मणि एवं पुष्पराग आदि प्रमुख थे। हर्ष का विशेष कृपापात्र महाप्रतीहार दौवारिक पारियात्र कटिभाग में पहने हुए पेटी में माणिक्यखण्ड का पदक लगा हुआ था। वक्षःस्थल पर हार तथा कानों में कुण्डल सुशोभित था। उसके वामहस्त में मोतियों से जड़ी हुई मूठवाली तलवार एवं दक्षिण हस्त में सुवर्णनिर्मित वेत्रयष्टि थी। सम्राट हर्ष का वामपाद महानीलमणि के पादपीठ पर रखा हुआ था तथा पादपीठ मणिक्यमाला की मेखला से आवेष्ठित था। दरबार में आये हुए राजागण विभिन्न प्रकार के आभूषण धारण किए हुए थे। वक्षःस्थल पर 'शेप'[1] नामक हार सुशोभित था। उल्लेखनीय है कि श्री हर्ष नामक कवि द्वारा प्रणीत "नैषधीयघटित" में इस प्रकार के हार को "दुंडुभक" अर्थात् दुंडुभ नामक सर्प की आकृति का कहा है। इसके टीकाकार ईशानदेव ने इसका पर्याय "टोडर" बताया है। कतिपय विद्वानों ने "शेषहार" के सम्बन्ध मे ऐसी सम्भावना व्यक्त की हैं कि वाण के काल में यह हार मोतियों से हो सकता है गुंथा जाता रहा हो और कालान्तर में पुष्पों के गजरे भी निर्मित होने लगे हों। स्मरणीय है कि कादम्बरी ने अपने वल्लभ चन्द्रापींड के लिए शेषहार प्रेषित किया था। इसके अतिरिक्त शेषहार का चित्रण गुप्त–कालीन मूर्तिकला में अनेकशः दृष्टिगत होता है। भुजाओं में केयूर तथा शिराभाग कई आभूषणों से अलंकृत था। ललाट से ऊपर वाले भाग में "अरुणचूड़ामणि" था जो पद्मराग नामक मणि की थी, उत्तर गुप्तकालीन मूर्तियों में मुकुटों पर पाया जाने वाला शिखरामरण नामक आभूषण पाया जाता है। इन आभूषणों में मोती और मरकत लगे हुए थे। इसके अतिरिक्त उनके कानों में कुण्डल लहरा रहा था। वाण के शब्दों में जिनकी इधर उधर घूमती हुई कोर वालवीणा के समान लग रही थी। (कुण्डलमणिकुटिल कोटिवांल–वीणा) चतुर चितेरे वाण ने राजदरवार के वर्णन को और अधिक मनोहारी बनाने के लिए चार विलासिनियों का चित्र खींचा है। उनके हृदयपटल पर लटकता हुआ हार अद्भुत शोभा वृद्धि कर रहा था, साथ ही इस हार में लगी हुई मध्यमणि वायु के स्पन्दन से जब हिलती थी तो ऐसा लगता था मानो स्तनों से अलिगन के लिए आतुर भुजायें फैली हों।

हर्षचरित के तृतीय उक्षवास में स्थाण्वीश्वर की स्त्रियां विभिन्न मनोहारी आभूषणों से लसी हुई थीं, उनके गले में हार, पैरों मे इन्द्रनील के नुपुर सुशोभित थे। साथ ही भैरवाचार्य के शिष्य जो उनके आदेशानुसार सम्राट पुष्यभूति को महाश्मशान के निकट शून्य मन्दिर में मिले थे, उसके एक कान में श्वेत दन्तपत्र संभवतः हाथीदांत का बना हुआ आभूषण विशेष था। वे हाथ में ढाल लिए हुए थे जिस पर चन्द्राकृति के साथ ही सोने की बुंदकियां (बुदबुदावली) उत्कीर्ण थी, कटिभाग में स्वर्ण निर्मित करधनी शोभायमान थी। उसके अतिरिक्त वाणभट्ट ने सम्राट पुष्यभूति तथा श्रीकंठ नाग के मध्य होने वाले द्वन्द युद्ध के उपरान्त यकायक आयी हुई स्त्री का चित्रण करते हुए लिखा है कि उसके नूपुर गुल्फ तक चढ़े हुये थे। नीचे घनी कटकाबली, हृदय प्रदेश में हार और कानों में दन्तपत्र का निर्मित कुण्डल था। जो द्वितीय के चन्द्र के सदृश प्रतीत हो रहा था।

१— शेषेण हार दण्डेन परिवलित कन्धरम्।

वाण ने चौथे उक्षवास में हर्ष के जन्मोत्सव का वर्णन करते समय हांथीदांत की इन मंजुषाओं में (दन्तशफरुक) चन्दन से स्वच्छ किया हुआ मूंगफल (सुपारी) तथा आम्र के (सहकारवृक्ष) से सिक्त खदिर के केसर रखे हुए थे। सम्राट हर्ष की राजमहिषियां भी भुजाओं में केयूर तथा कानों में त्रिकटक नामक आभूषण धारण किये हुये थीं। भंडि एक कान में नीलम निर्मित कुण्डल तथा दूसरे कान में मोतियों का बना त्रिकंटक[1] था।

उत्तर गुप्तकाल के नरेश (महासेन गुप्त के पुत्र कुमार गुप्त तथा माधव गुप्त जो हर्ष के साथ-साथ दरवार में पल रहे थे) कुमार गुप्त के बायें हाथ में माणिक्य का जड़ाऊ कड़ा, कान में पद्मरागमणि का कर्णाभरण सुशोभित था। भुजाओं में धारण किये हुये केयूर में पत्रलता सहित पुतलियों का अलंकरण किया गया था (उत्कोटिकेयूर भंग पुत्रिका)। इसके अतिरिक्त विशाल वक्षस्थल पर लम्वे गोल तकिये की आकृति का मोटा हार पड़ा हुआ था। वासगृह में एक ओर सोने की झारी (कांचन आचामरुक) तथा दूसरी ओर हाथीदांत का डिव्वा लिये हुये सोने की पुतली का चित्रण किया गया था, सिरहाने के पास पानी से पूर्ण विद्राकलश रखा हुआ था। पंचम् तथा षष्ठ उक्षवास में सामान्य तथा अलकरण सम्बन्धी वर्णन का अभाव है।

सप्तम् उक्षवास में हर्ष सकलोत्तरपथनाथ के विरुद को चरितार्थ करना चाह रहा था। वह इस क्षेत्र समुद्रगुप्त के "धरणिवन्ध" एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के "कृतरनपृथ्वीगय" के आदर्शों का अनुकरण कर रहा था। सर्वप्रथम स्वर्ण तथा रजत निर्मित कलशों में भरे जल से विधिवत स्नान किया तदन्तर स्वर्ण के बने तिलपायों का दान किया। इसके अनन्तर वह व्याघ्रचर्म के ऊपर स्थित स्वर्ण के भद्रासन पर विराजमान हुआ। उल्लेखनीय है कि भद्रासन स्वर्ण रजत तथा ताम्र मैरू से किसी एक का बनाया जाता था किन्तु सामन्तों के लिये १८", विजिगीषुओं के लिए साढ़े वाइस इन्च तथा महाराजाधिराजाओं के लिये २७ इन्च ऊंचा होता था। हर्ष के कर्णों में मरकत निर्मित कर्णाभरण तथा हाथ में कंकण एवं शासनावलय शोभायमान था। शासनावलय को वाण ने कादम्बरी में धर्मशासन कटक भी कहा है। वहां पर उसका तात्पर्य ताम्रपत्रों में पिरोये गये कड़ों से है। हर्षचरित के टीकाकार शंकर ने शासनावलय का अर्थ मुद्राकटक से किया है। डा० अग्रवाल के मत में यह कड़ा था जिसमें राजकीय मुद्रा पिरोई रहती थी। इसके अतिरिक्त कालान्तर में अक्षपटलिक नामक कर्मचारी ने हर्ष को वृषभांकित (बुल सिम्वल) अर्थात् ऐसी स्वर्ण मुद्रा दी, जिस पर वैल का चित्र बना हुआ था, उल्लेखनीय है कि सोनीपत से हर्ष की वृषभांकित ताम्र मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमें वाणभट्ट के वर्णन के समरूप ही ऊपर दाहिने ओर मुंहकर बैठे हुए वृषभ की मूर्ति का अंकन प्राप्त होता है, कहा जा सकता है कि गुप्तसम्राट वैष्णव (भावेन विष्णौमतिम-मेहरौली लेख) अर्थात् परम भागवत् थे इसीलिये गरूण चिन्ह को मुद्राओं आदि में स्थान प्रदान किया, उसी प्रकार हर्ष परममाहेश्वर थे इसी कारण इस मुद्रा पर माहेश्वर के वाहन नन्दी वृषभ का अंकन प्राप्त होता है (वृषभांकामि नवघटितां हाटकमयीं मुद्राम्)। वाणभट्ट के अनुसार कुमार गुप्त के अश्वों की पलानों पर एक विशेष प्रकार का स्वर्ण का वना अलंकरण था जिसे लवणकलाई कहा गया है। वैसे लवणकलाई शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में विवाद है। कावेल और कणों का अर्थ अस्पष्ट है। शंकर के अनुसार हिरण की

१— एकेन इन्द्रनीलकुण्डलांशुश्यामलितेन शरीरार्द्धन इतरेणच त्रिकण्टक मुक्ताफलालोकधवलितेन।

आकृति की लकड़ी की पुतलियां बनाकर घोड़ों की जीन से लटकाया जाता था। उन्हें लवणकलाई कहते थे। डा० अग्रवाल का विचार है कि इस प्रकार का अलंकरण यूनानी और रोमन घोड़ों में प्राप्त होता है। यूनानी भाषा में इसे फलश कहते हैं। यथा—

"Phalara (Pl-Phalra) used once in Homer to signify an appendagets a helmet. The word is elsewhere used of the metal discs or crecents with which a horse's harness was ornamented. (Cornish-quoted by Dr. Agrawala)"

इन घोड़ों की पलाने किंकणी तथा नाली से युक्त थी। शंकर के अनुसार नाली से तात्पर्य है द्रव आदि पिलाने के लिए बांस की नली, किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में दिव्यावदान नाली से तात्पर्य स्वर्णनिर्मित नलकी से लगाता है जो घोड़ों की पूंछ में पहनाई जाती थी (तस्य तु पुच्छं सौवर्णायां नलिकायां प्रक्षिप्तम् निश्द्वारा) राजागण केकानों में कुण्डल, पत्रांकुर, कर्णपूर और कर्णोत्थल हिल रहे थे। पत्रांकुर कर्णपूर ऐसा आभूषण था जिसमें कोमल नवपल्लवों के सदृश पत्रावली का अलंकरण रहा करता था साथ ही उर प्रदेश पर लटकता हुआ हार कानों में धारण किए हुए कुण्डलों से उलझ जाया करता था। केशों को सुव्यवस्थित रखने के लिए शिर के सामने की ओर बालपाश नामक आभूषण धारण किए हुए थे जिसमें मोतियों के झुग्गे लगे हुए थे। बालपाश का अंकन अजन्ता की हलाकृतियों में प्राप्त होता है। अजन्ता गुफा संख्या १ में नागराज तथा द्रविढ़राज दोनों के शिर पर बालपाश आभूषण शोभायमान है जोकि अक्षरशः बाणभट्ट के वर्णन की ही भांति है। अमरकोशकार ने केशों को यथावत रखने वाले आभूषण बालपाश अथवा बालपाश्या का पर्यायवाची शब्द परितध्या उल्लिखित किया है। इस प्रकार के आभूषण सैन्धव सभ्यता में भी प्रचलित थे। स्वर्ण निर्मित ये पत्रक लगभग १६ इन्च लम्बे तथा आधा इन्च चौड़े हैं।

सातवें ही उक्षवास में प्रागज्योतिषपुर (आसाम) के अधीश्वर भास्कर वर्मा द्वारा हर्ष को उपहार में प्रदान की हुई सामग्रियों में मुक्ताफल से जड़े हुये हाथीदांत के कुण्डल उल्लेखनीय हैं। ये मुक्ताफल जलहस्तियों के मस्तक से निकले हुए थे। यहां पर जलहस्ती अथवा जलेभ से तात्पर्य है दरियाई घोड़े से, जिसके मस्तक की हड्डी को खराद कर गोल आकार की मोतियां बनाई जाती थी। डा० अग्रवाल के अनुसार फ़ारसी भाषा में वालरस आइवरी कहा जाता है। शुकसारिकाओं के पिजड़ों पर सुनहला पानी चढ़ा था। इसका तात्पर्य है कि हर्ष के काल में सोने को पिघलाना आसान था। शुद्ध मोतियों से गुंथे तारहार का उल्लेख प्राप्त होता है। अमरकोश से भी इसकी पुष्टि होती है (मुक्ताशुद्धौ च तारः स्यात्—घ/१६६/आर)। ८वें उक्षवास में शवरयुवा को रांगे का कड़ा पहने हुए दिखाया है।

इतना तो निरापदरूप से कहा जा सकता है कि हर्षचरित में प्राप्त होने वाली अलंकरण कला से सम्बन्धित सामग्री को मात्र गल्प कहकर उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखना समीचीन न होगा, प्रस्तुत-प्राप्त होने वाले तथ्यों पर सूक्ष्म विचार कर उन्हें ऐतिहासिक महत्व का दर्जा प्रदान कर साहित्यिक सामग्रियों के प्रति पाठकों, आलेखकों, विद्वानों तथा कलाविदों की अभिरुचि उत्पन्न करना है। भारतीय संस्कृत वांगमय के विवेकपूर्ण अध्ययन से प्राचीन भारतीय इतिहास की गुत्थियों को आसानी से सुलझाया जा सकता है।

श्री गिरीश चन्द्र शुक्ला, लेक्चरर, एम० एम० डिग्री कालेज, कालाकांकर (प्रतापगढ़)।

भारत कला में पूर्व मुगलकालीन यशब के सामान

राय आनन्द कृष्ण

यशब की वस्तुएं मुगलकाल से मिलने लगती हैं। इसके पूर्व यद्यपि अन्य पत्थरों के सामान काफी संख्या में मिलते हैं परन्तु यशब का कोई भी सामान मुगलकाल से पूर्व अभी तक नहीं मिला है। संस्कृत साहित्य में अभी तक कोई चर्चा नहीं है। इन सब कारणों से ऐसी सम्भावना होती है कि मुगल–काल में यशब के सामानों का प्रचार हुआ। इस धारणा की पुष्टि इससे भी होती है कि भारत में आने के पूर्व तैमूरी वंश में यशब के चीजों का बड़ा प्रेम था और तैमूरी वंश में यशब के चीजों का बड़ा प्रेम था और तैमूरी वंश की उस काल की अनेक वस्तुयें प्राप्त भी होती हैं। अतएव अधिक सम्भावना यही है कि तैमूरी वंश का जब भारत में आगमन हुआ तो उनके साथ-साथ यशब के वस्तुओं का भी शौक यहां चल पड़ा। मुगलकाल में भी इस प्रकार की वस्तुयें जहांगीर काल से ही मिलती हैं। इसलिए सम्भावना है कि जहांगीर ने इनका **प्रचलन** प्रारम्भ किया। जैसा हम आगे देखेंगे जहांगीर के व्यक्तिगत उपयोग में आने वाली कुछ वस्तुयें उस समय से मिलने लगती हैं, जब वह सिंहासन पर नहीं आया था, अतएव उस समय उन वस्तुओं पर उसका नाम सलीम खुदा है। इसका कारण यह हो सकता है कि जहांगीर में तैमूरी वंश की प्राक्भारतीय प्रवृत्तियां बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान थीं और उन्हें वह भारत में पुन–प्रतिष्ठित कर रहा था।

अकबर कालीन चित्रों को भी देखने से पता चलता है कि उस समय तक यशब के वस्तुओं का प्रचलन नहीं था। क्योंकि यद्यपि बाद के चित्रों में यशब के बस्तुओं का प्रचलस दिखलाई पड़ता है परन्तु अकबर कालीन चित्रों में इन वस्तुओं के प्रचलन का पूर्णतयः अभाव है। यदि किसी कारण अकबरी चित्रों में यशब की वस्तुओं का प्रचलन मिल जाय तो हमें इसका इतिहास और पहले के काल में ले जाने में सुविधा होगी।

यद्यपि वास्तुशास्त्रों में इस प्रकार के आलंकारिक प्रयोग का कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु अन्य साहित्यिक संदर्भों में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पच्चीकारी के काम का प्रचलन पूर्व कालों में भी

जान पड़ता है। उदाहरण के लिए उत्तर मेघ में कालिदास ने **मणिभय भुवः** का उल्लेख किया है।[1] यह मणिजड़ित फर्श या दीवारें पच्चीकारी की कल्पना के समानान्तर हैं।

अब हम मुगल काल के यशब के कुछ उपादानों तथा उनके क्रमिक विकास को संक्षिप्त रूप में देखेंगे। जैसा हम कह चुके हैं, बाबर के पूर्व इस वंश के मध्य एशियाई भाग में भी यशब की वस्तुओं का प्रचलन था। तैमूर के पौत्र उलुगवेग गुरगानी ने स्वयं तैमूर की कब्र पर एक बहुत बड़ा यशब का टुकड़ा लगाया। सम्भवतः उतना बड़ा यशब तो संसार में अद्वितीय होगा। वह कब्र के पूरी लम्बाई चौड़ाई से भी कहीं अधिक बड़ा है और प्रायः चार फुट ऊंचा है। इस पर एक विशेष प्रकार की बेल बनी है तथा अक्षर खुदे हैं। यशव का रंग भी बहुत अधिक गहरा हरा है मानो दूर से देखने से एकदम काला प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में और अधिक चर्चा होगी।

अकबर काल में, परन्तु शाहजादे सलीम के लिए ही, एक अंगुश्ताना बना। यह हलके सफेद यशब का है। अब यह भारत कला भवन संग्रह में हैं। यह मुगलकालीन यशबों में सर्वप्रथम माना जाता है।

यशव के इस अंगुश्ताने (अंगूठे को धनुष की प्रत्युन्चा के घर्षण से बचाने के लिए प्रयुक्त अंगूठी) के ऊपरी ओर ठेठ अकबरकालीन बेल खुदी हुई है। संयोगवश जहांगीर का ही एक और अंगुश्ताना कला भवन संग्रह में है। आगे हम उस पर विचार करते हुए यह दिखलायेंगे कि बाद में जहांगीर की कलात्मक अभिरूचि में किस प्रकार परिवर्तन हुआ। यहां इतना ही अपेक्षित है कि इस अंगुश्ताने में अकबरी दृष्टिकोण का पूर्ण प्रभाव विद्यमान है। यशब का रंग हलका सफेद होने के नाते पारिभाषिक शब्दावली में "कपूरी" है। आगे चलकर इसका भिन्न प्रकार से उपयोग हुआ परन्तु इस काल में इसमें भारी नक्काशी और उस नक्काशी के अन्दर भी रत्नों के जड़ाव से इसका काफी भारी भरकम रूप हो गया। खेद है, जड़े हुए रत्नों को बाद में किसी ने निकाल दिया, जिससे इसका मौलिक स्वरूप नष्ट हो गया। अंगुश्ताने के भीतरी भाग में "शाह सलीम" लेख खुदा हुआ है अतः इसका काल सोलहवीं शती के अंतिम भाग का होना चाहिए। इसी काल में सलीम ने कित्नकारी में रुचि लेनी प्रारम्भ की थी।

जहांगीर काल आते ही यशब की वस्तुओं के अनेक प्रकार मिलने लगते हैं और उनकी शैलीगत विविधता भी प्रकट होने लगती है। जहांगीर अपने राज्य के बारहवें वर्ष में मध्य प्रदेश के माण्डू नामक दुर्ग में था। यह १६१८ ईसवी की बात है। तब तक जहांगीरी चित्रों और वास्तु ने अपने अपने निजस्व प्राप्त कर लिए थे। स्वयं जहांगीर अपनी आत्मकथा में अपने जीवन के एक से एक रोचक एवं सुन्दर चित्र

१— अन्तस्तोयं मणिभयभुवः — — — — — उत्तर मेघ ?

उपस्थित कर चुका था। ऐसे प्रौढ़ कलात्मक परिवेश में यशब की वस्तुयें भी एक से एक बढ़कर तैयार होने लगीं। संयोगवश माण्डू वाले काल के कई उदाहरण प्राप्त हुए हैं। इससे यह सम्भावना हो सकती है कि माण्डू में यशब काटने वाले वेगड़ियों का एक अच्छा खासा वर्ग रहा होगा इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि मुगलों से पूर्व माण्डू, खिलजियों के काल में तथा उसके पश्चात् प्रसिद्ध सुलतान बाज़बहादुर के समय में कला और संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था। माण्डू के वास्तुगत वैभव के विषय में तो अधिक कहना अपेक्षित नहीं है क्योंकि वह तो जगविख्यात है। परन्तु माण्डू से सुलतानकालीन सचित्र ग्रन्थ तथा श्वेताम्बर जैन सचित्र ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं जिनमें वहां की उदात्त चित्र शैलियां मिलती हैं। बाज़बहादुर के समय में कला-संस्कृति और सर्वोपरि संगीत की भी यहां बहुत उन्नति हुई सम्भवत: माण्डू में पहले से ही परम्परागत वेगड़ी थे जिन्होंने जहांगीर प्रभाव में यशब का काम शुरू कर दिया।

इन माण्डू वाले उदाहरणों को विस्तृत रूप से देखने के पहले इस सम्बन्ध में एक विवाद को भी स्पष्ट कर देना उचित होगा। इन उदाहरणों में जो लेख हैं उनमें अंत में फारसी वाक्यांश आता है— माण्डू कुंद शुद। इसका अर्थ आजकल की फारसी में है—(अभिलेख) माण्डू में खोदा गया। परन्तु यह विचारणीय है कि क्या मुगलकालीन फारसी में भी इस वाक्यांश का यही अर्थ था। यदि हम पहले वाले अर्थ को स्वीकार करें तो यह भी निकाला जा सकता है कि यशब के ये उपादान कहां और किस स्थान पर बने होंगे और उन पर ये लेख माण्डू में खोद दिए गये। इस प्रकार कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यशब के उक्त सामान सम्भवत: मध्य एशिया से बनकर आते थे। माण्डू आने पर उक्त सामान पर लेख खोद दिये जाते थे। मैं इन विद्वानों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। माण्डू के जो कारीगर इतनी सुन्दर और बारीक लिपि यशब पर खोद सकते थे, क्या वे इन आकारों को नहीं प्रस्तुत कर सकते थे। ये सब खुदाई के काम साधारण प्रकार से सम्भव नहीं है, वरन् (लेथ) पर काटे हुए हैं अर्थात् बहुत महीन औजार से एक विन्दु बनाकर फिर उसे ही पूर्व निश्चित रेखा का रूप देना पड़ता है।

माण्डू में यह कला प्रचलित थी। इसके लिए हम यशब के अतिरिक्त एक अन्य कड़े पत्थर में कटे एक प्याले को लेंगे। यह भारत कला भवन संग्रह में हैं। यह भी जहांगीर के राज्यवर्ष (१६१८ई०) में वहां तैयार हुआ, यह हमें उस पर दिये हुए लेख से प्रकट होता है। लेख की खुदाई सोने से जुड़ी हुई है। यह प्याला गहरे रंग के पत्थर का बना है, जिसे बोलचाल की भाषा में जहरमोहरा कहते हैं। इस सम्बन्ध में किसी को भी संदेह नहीं है कि यह शुद्ध भारतीय परम्परा में प्रस्तुत किया गया है। इसका आकार पद्मगर्भ के समान है। बाहर की पंखुड़ियां भी अधखिले कमल के रूप में हैं जो नितान्त भारतीय कल्पना है। पंखुड़ियों का आकार प्राक्मुगल सुलतानी परम्परा में है। इस प्रकार इस प्याले से जहांगीर के वेगड़ी कला के प्रति आकर्षण और उसकी एक निश्चित परम्परा का पता चलता है।

इसी परम्परा को हम माण्डू में ही बने एक अन्य प्याले में पाते हैं। परन्तु इसमें बादशाह या कारीगर की रूचि में बहुत तगड़ा परिवर्तन मिलता है। फलत: कुछ विद्वानों ने इसे ईरानी या मध्य

एशियाई कृति मान ली है। पहले हम इसका मोटे तौर पर वर्णन कर लें, फिर इस प्रश्न पर विचार करेंगे। यह प्याला भी कपूरी रंग वाले यशब का बना है। इसकी बाहरी दीवारों पर तथा इसकी बैठकी में अंगूर की बेल बनी है। बैठकी और हैंडिल में मानो उस लता की घुमावदार डालियां हैं। एक ओर बाहर की ओर निकली हुई अंगूर की पत्ती है। सारा काम पूरे उभार के साथ दिखलाया गया है—मानो स्वतन्त्र रूप से कटा हो पर वस्तुतः सब कुछ एक ही पत्थर में है। प्याले के बा[illegible]वार पर चारों ओर हल्की गहराई में किसी प्रकार की पत्तियों की पंक्तियां हैं। ऐसे गहरे उभारदार अलंकरण चीन के बने बर्तनों में बहुत लोकप्रिय थे।

इस प्याले के विषय में बहुत अधिक मतभेद है। यतः इसकी भावना मूलतः अभारतीय है, अतः राबर्ट स्केल्टन आदि विद्वान इसे ईरानी या मध्य एशियाई मानते हैं। अर्थात् यह प्याला उपर्युक्त किसी देश से भारत आया और जहांगीर ने उसे संग्रह कर, उस पर अपना नाम खुदवा दिया। हम आगे देखेंगे कि जहांगीर ऐसे मध्य एशियाई प्यालों का संग्रह करता था। इसी प्रकार वह यूरोपीय वस्तुओं तथा चित्रों का भी संग्रह करता, जिसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं।

जहांगीर की कला प्रवृत्ति बहुत उदार जान पड़ती है। उसके व्यक्तित्व की महानता इससे प्रकट होती है कि वह भारतीय परम्परा में डूबा हुआ था, साथ-साथ ईरानी, मध्य एशियाई और यूरोपी कला प्रवृत्तियों से भी प्रभावित था। इन देशों के कलाकार उसके दरबार में थे, अथवा भारतीय कलाकार ऐसी परम्पराओं की अनुकृति तैयार कर रहे, सर्वोपरि उन्हें भारतीय सांचे में ढाल रहे थे। चित्रों के अध्ययन से तो ये सभी प्रवृत्तियां बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट होती हैं। अपनी आत्मकथा में भी इन तथ्यों को उसने साफ-साफ रूप में रखा है।

मेरा यह निश्चित सुझाव है कि यह प्याला भी भारत में सम्भवतः माण्डू में ही बना। एक तो इस पर भी लेख है: **माण्डू कुंद शुद**। कोई कारण नहीं कि इसका अर्थ यह न हो कि यह माण्डू में तैयार हुआ। फिर चीनी कला शैली से यह किसी प्रकार मेल नहीं खाता। चीनी कला के कई सुप्रसिद्ध विद्वानों ने इसे देख कर कहा कि ऐसी "धुन" चीनी कलाकारों की हो ही नहीं सकती। १५वीं, १६वीं शती में यदि कोई कलाकार ऐसी "धुन" बनाता तो उसे चीनी समाज स्वीकार ही न करता। इतना यह चीनी परम्परा से भिन्न है। मध्य एशियाई या ईरान से भी इस प्रकार का एक भी अंकन नहीं प्राप्त होता हुआ है, यशब ही नहीं, वास्तु या अन्य किसी कला–अभिव्यक्ति तक में। अतः यह कैसे मान लिया जाय कि मध्य एशिया या ईरान में केवल एक अपवाद स्वरूप यह प्याला तैयार किया गया। सर्वोपरि इसकी बाहरी दीवार पर हलकी हलकी गहराई में जो पत्तियां बनी हैं, उनका सम्बन्ध अंततोगत्वा यूरोपी कला से प्रभावित एकन्थस की पत्तियों से जोड़ा जा सकता है।

अकबर काल से ही मुगल दरवार की कलाभिव्यक्तियों पर यूरोपी कला का प्रभाव पड़ने लगा। जहांगीर काल में तो यह प्रभाव अनेक स्थलों पर बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगता है। एकेन्थस की पत्तियों का जहांगीर कालीन वास्तु में खुल कर प्रयोग हुआ है। ऐसा कोई प्रमाण ईरान, मध्य एशिया और चीन में इस काल में नहीं मिलता। अतः इस प्याले को भी भारतीय कृति मानना उचित होगा। इससे जहांगीर तथा भारतीय कलाकारों की एक ऐडवेंचर वाली प्रवृत्ति का परिचय होता है। अंगूरी लता और पत्तियों के बीच छलकती हुई मदिरा की एक रूमानी कल्पना साकार हो जाती है।

अब हम एक ऐसे प्याले को लेंगे जो बिलकुल ही मध्य एशियाई अर्थात् अभारतीय है। ऊपर हम इस प्याले की चलती हुई चर्चा भी कर चुके हैं। यह प्याला गहरे हरे रंग के यशब का है जैसा तैमूर की कब्र में लगा है। एक कल्पना यह भी हो सकती है कि यह प्याला उसी पत्थर के एक टुकड़े से बना हो। यों देखने में यह काले रंग का प्रतीत होता है। अब यह भारत कला भवन संग्रह में है।

यह प्याला वस्तुतः तैमूर के प्रसिद्ध उलुगवेग गुरगानी के लिए पंद्रहवीं शती में तैयार हुआ था, जैसाकि इसके बाहरी ओर एक लेख से प्रकट होता है। बाद में जहांगीर ने इसे प्राप्त किया होगा। जहांगीर ने अपना नाम दूसरी ओर खुदवा दिया। स्वयं जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में उलुगवेग के एक प्याले के संग्रह करने का उल्लेख किया है। पहले यह धारणा थी कि भारत कला भवन संग्रह बाला प्याला वही है, जिसका जहांगीर ने उल्लेख किया है। परन्तु यह भी सम्भावना है कि उपर्युक्त प्याला भिन्न था जो अब किसी यूरोपी संग्रह में है।

आश्चर्य का विषय है कि भारत कला भवन संग्रह वाले प्याले और तैमूर की कब्र वाले यशब के कामों में भी आश्चर्यजनक समानता है। इसमें ठीक उसी प्रकार की बेल और अक्षर खुदे हैं। यद्यपि जहांगीर ने इसका संग्रह किया परन्तु उसके अपने यशब के सामानों पर इस शैली का कोई प्रभाव नहीं दीखता। उलुगबेग वाले प्याले की हैंडिल मोर की घूमी हुई गरदन के समान है। इसमें भीतर पेंदे में बत्तख जैसा एक पक्षी भी खुदा हुआ है। इसकी समूची खुदाई की खुलाई चांदी (और सम्भवतः सोने) के महीन तार से हुई थी। बाद में किसी ने अज्ञानवश उस तार को निकालने के प्रयत्न में इसकी खुदाई की बारीक रेखाओं को चौपट कर डाला।

तुलना की दृष्टि से अब हम एक अत्यन्त छोटे से यशब के उपादान को लेंगे जो राज्य संग्रहालय, लखनऊ, में है। ठीक इसका जोड़ा बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में है। इससे यह प्रतीत होता है कि अनेक उपादानों की जोड़ी तैयार होती थी। यह कपूरी (हल्के सफेद) रंग के यशब का बना है।

इसमें ऊपर एक घुण्डी है जिससे यह संकेत होता है कि इसे बांध कर लटकाया जाता था। वस्तुतः जहांगीरकालीन तथा परवर्ती मुगल चित्रों में बादशाहों की शबीहों में यशब के इस जैसे उपादान आकृति की वगल में लटकते हुये दीखते हैं। लखनऊ या बम्बई वाला यह उपादान बहुत ही छोटे आकार का है। इसके उपयोग का ठीक-ठीक पता नहीं है। सम्भवतः इसमें कोई छोटे आकार की वस्तु रखी जाती है। एक सुजाव यह है कि इसमें खुज्ज रखा जाता था, जो कलम पोछने के काम आता था। इसका आकार चम्पा के फूल सा है, जो नितान्त भारतीय रूचि का परिचायक है। इन दोनों पर भी जहांगीर का लेख है।[1]

अब हम कुछ ऐसे उदाहरणों को लेंगे जिन पर जहांगीर का लेख तो नहीं है परन्तु हम शैलीगत विशेषताओं से उन्हें जहांगीरकाल में रख सकते हैं। कला भवन में तलवार की एक ऐसी ही मूठ है। इसका घूमा हुआ रूप एक फूले हुए बूटे (पौधे) के समान है। यह पत्थर दो रंग का है–इसका नीचे का भाग काला है और ऊपरी भाग सफेद। कलाकार ने इसमें सुन्दर कल्पना की है, इसका निचला भाग पत्तियों के समान और ऊपरी भाग फूलों के गुच्छे के समान बनाया है। इस बूटे की कल्पना मुगल वास्तुओं में जहांगीरी अलंकरणों से बहुत मिलती जुलती हैं। यहां पत्तियां चौड़ी और हलके उभार में हैं। शाहजहां काल या उसके बाद पत्तियां सकरी और उमेठी हुई हो जाती हैं, इन प्रवृत्तियों का यहां अभाव है। फूल अधखिली कलियों के समान हैं जिनकी पंखुड़ियो में बड़ी नजाकत प्रकट होती है। ये जहांगीरी कला की विशेषतायें थीं। इसी प्रकार का काम चम्पा के फूल वाली डिबिया (?) में भी थे।

जहांगीर–शाहजहां के संधिकाल अथवा शाहजहां काल की एक तिथि विहीन मूठ पर नीलगाय का सिर तथा गर्दन बनी है। इसमें यशव का रंग हरा है। और उस पर काली धारियां हैं। अंग्रेजी में ऐसे यशब को पालक (स्पिनैच) के रंग का कहते हैं। यह भी दुष्प्राप्य रंग होता है। जान पड़ता है कि उत्तर जहांगीरकाल से ही मूंठों पर पशु पक्षियों के सिर बनाने का प्रचलन हो गया था। उस काल के मुगल चित्रों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें पुरुष की कमर में ऐसे यशब वाले मूठ के साथ तलवारें, चाकू या कटार बंधी दिखलाई पड़ती है। फिर तो यह क्रम मुगलकाल में बराबर मिलता रहता है। इसी प्रभाव में राजस्थान, पहाड़, दकन आदि क्षेत्रों के चित्रों में भी ये मिलते हैं।

१— यहां पर भारत कला भवन संग्रह में एक अन्य अंगुश्ताने का भी हवाला देना उचित होगा। यह रोलाहर नामक पत्थर का है, जो काले रंग का है। इसमें किसी प्रकार की नक्काशी नहीं है। परन्तु इसके गहरे काले रंग तथा सादगी से ही इसका मूफियापन प्रकट होता है। इससे जहांगीर की रूचि के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है। भीतरी ओर सुनहले अक्षरों से जहांगीर का नाम खुदा है।

नीलगाय के सिरवाली मूठ भारत कला भवन संग्रह में है। इसमें चेहरे की हड्डियों और मांस–पेशियों तथा नसों के उतार चढ़ाव को बड़े ही सुन्दर और स्वाभाबिक ढ़ंग से दिखलाया गया है। इतना बारीक और मार्मिक अंकन मुगलकाल में कुछ ही समय तक सीमित था, वह काल जहांगीर का उत्तरकाल और शाहजहां का राज्य तक ही मिलता है। इस मूंठ में पशु के स्वभाव की भी सुन्दर अभिव्यक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो नीलगाय सिर और कान उठाये चौकन्ने होकर देख रही है।

इसी संग्रह में एक घोड़े की आकृति वाली मूंठ है। यह अंगूरी रंग (गहरे सफेद, जिसमें नीली झलक है) के यशब की बनी है। इसमें एक हांफता हुआ घोड़ा है। इसके फूले हुए नथुने, खुले हुए दांत और होठ तथा एक ओर घूमे हुये अयाल देखने योग्य हैं। कला भवन में ही एक और हांफते हुए घोड़े की मूठ है। पर यह बहुत बाद की हैं (प्रायः १७२५–५०), अतः दोनों के कृतित्व में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले वाले का काम कितना बारीक और मार्मिक है। परवर्ती उदाहरण में यहीं शैली कितनी रूढ़ हो जाती है।

इसी कला की एक मूठ में तोते का सिर बना है। यहां यशब कपूरी (हल्के सफेद) रंग की है। इससे तोते के सिर की कोमल भावना प्रकट होती है। दूसरी ओर गहरे रंग की होने के कारण नीलगाय वाली मूठ में कठोरता की भावना है। तोते की चोच थोड़ी खुली है और उसके बीच किसी फल का एक दाना भी दबा हुआ है। अंकन की दृष्टि से इस मूठ की अभिव्यक्ति नीलगाय वाली मूठ से बहुत भिन्न है। यशव के रंग परिवर्तन के कारण में भी धुन (ट्रीटमेन्ट) का महत्व वढ़ जाता है। गहरे रंग के यशब को चुन कर कलाकार ने नीलगाय के चेहरे की कठोर मुद्रा, उभरी हड्डियां मांस पेसियां ओर नसें दिखलाने में बहुत सफलता पाई है। दूसरी ओर हल्के कपूरी रंग के यशब को उसने बड़े हल्के और गोलाई लिये उभारों में मानो सांचों में ढाल दिया है। यशब के उतार चढ़ाव बड़े ही कोमल प्रकार के हैं। किसी पालतू तोते की कमनीयता और कोमल भावना को प्रकट करना कलाकार का मुख्य उद्देश्य है। फिर उसकी चोंच में बारीक दाना दिखलाकर कलाकार ने इसे जीवंत बना दिया है।

एक अन्य हल्के (अंगूरी) रंग वाली मूठ में हम शाहजहांकाल में प्रयुक्त बूटों को देखते हैं जो घूमी हुई पत्तियों और उल्टी हुई पंखुड़ियों में स्पष्ट है। सारा काम बहुत ही हल्के उभार में दिखलाया गया है, जो शाहजहांकाल के सूफियाने वाली प्रवृत्ति है। ऐसी ही सूफियानी प्रवृत्ति एक ताबीज में मिलती है जिस पर कुछ आशीर्वादात्मक वाक्य खुदे हैं इसकी तिथि हैं: १०५१ हिजरी अर्थात् १६४१ ई०।

यहां उदाहरण के लिये एक शाहजहानी प्याले का भी उल्लेख करना उचित है। यह अब लंदन के विक्टोरिया ऐंड अलवर्ट म्यूजियम में है। और सम्भवतः शाहजहांकाल की यशब की कृतियों में सर्वश्रेष्ठ

है। यह एक प्याला है जो कटे हुए फल (सम्भवतः खरबूजे जैसा फल) के आधे कटे हुये टुकड़े के समान है।[1] इसका दल बहुत ही बारीक है—कागजी है, फलतः हल्का सा पारदर्शी है। यशब ऐसे पत्थर को एक निश्चित आकार में इतना पतला तैयार करना भी अपने आप में एक कमाल है। फिर खरबूजे के आकार को कुछ बड़ा कर सुतुही की शक्ल सी दे दी है। यह भारतीय प्रभाव है क्योंकि प्राचीन काल में सुतुही के आकार की पकाई मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुये हैं जो सम्भवतः चषक के काम आते हैं। ऐसे बर्तन राजघाट (काशी) तथा अन्य प्राचीन स्थानों से मिले हैं।

शाहजहांकाल के बाद क्रमशः इस काल में ह्रास आने लगता है। अठारहवीं-उन्नीसवीं शती वाले उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उनके काम का स्तर बहुत मोटा एवं भोड़ा हो गया था। बेल, बूटों, लिखावट आदि में भी परिवर्तन होते गये। उसका अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय है।

१— इससे मिलता जुलता प्याला ईरानी शैली का भी मिला है, जो किसी विदेशी संग्रहालय में है। प्रसिद्ध विद्वान रावर्ट स्केल्टन ने उक्त ईरानी प्याले को एक फ्रेन्च पत्रिका ओइल में प्रकाशित किया था। पर उसकी धुन (ट्रीटमेन्ट) भिन्न है।

डा० राय आनन्द कृष्ण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ORNAMENTAL ARMS—A STUDY OF SOME DECORATIVE ARTS AS APPLIED TO NORTH AND CENTRAL INDIAN ARMS WITH SPECIAL REFERENCE TO THEIR TECHNIQUES,

M. C. Pande

One may ask, with some obvious justification, as to why anybody should study or collect arms which are primarily designed to kill or maim. In the Indian context, with our long traditions of non-violence, such a study would appear to be an anti-thesis of that thinking.

The very sight of an antique arm creates in the onlooker, specially male, a dramatic or a romantic feeling of the days or the heroes goneby. Few can resist this immediate childish reaction but what is certain is that a response is made, any-way. This romantlc stage passes on very quickly and an enthusiast soon learns that each arm has its own inherent qualities of aesthetics which are entirely separated from its fatal purpose. Each arm is unique and in details it differs considerably from its apparent twin. Down the ages, large number of the finest Indian artists-gold-smiths, silver-smiths, engravers, wood-carvers, iron-smiths and gem-setters, pur-posefully deployed by the erstwhile states, have been lavishing all their skill and care and have been producing innumerable arms and accoutrements which have been, both, functional and beautiful. Every type of material was used in decoration and almost all techniques were employed to beautify the appearance of a well balanced and for its time a highly efficient piece of arm or armour.

The decorative arts have been employed on royal weapons, at all places and in all ages. In India, the custom of giving presents at the darbars to the kings and the royal guests has greatly contributed for the manufacture of ornamental arms.

From the remotest antiquity, arms belonging to the kings have been inlaid with gold and jewels. Though, early examples are not available, we can yet find ornamental weapons represented in early Indian sculptures and are also described in early literature, specially, Classical, Buddhist, Brahmanical and even Jain. But from the beginning of the 16th to the early 20th century, many examples of these ornamented weapons have survived and are at present preserved in the various private or public collections, in or outside India and it is principally on these that my remarks are based.

Before taking up the techniques of Decorative Arts as applied to the north Indian arms and armours, it will be worth while to make some general observations.

Indian Arts, as a whole, until very recently, has been basically traditional. "Fashion changes slowly in India, and although it is effected from time to time by foreign influence, yet the type of decoration has probably been handed down from a remote antiquity."[1] (Egerton, p. 45).

'How far á particular art tradition died out at one time and revived subsequently or 'How far the Indian Decorative Arts were influenced by the Persian or the Turkish or the European art traditions and when, or vice- versa, are yet unsolved equations. These are problems which require independent deeper probes.

There are marked differences between the arms of the North and the South, which according to Egerton are due to the Aryan and the Turanian art inspirations, respectively, though he believes that both have borrowed from Assyria and perhaps from Egypt too.[2] Since my study of the South Indian arms is sketchy, I shall, therefore, restrict myself to the North and Central Indian arms only.

There is not enough evidence to prove, that the Indian Decorative Arts have a common origin with that of Persia or that they have been introduced into India by the Mughals, as some scholars believe. All we can say with some certainty is that these arts reached their zenith under the keen patronage of the Mughal Emperors beginning from Akbar the Great. As has been stressed earlier, the foreign influences have been creeping into the Indian art as a whole from time to time with each invasion or contact, it largely goes to the credit of Indian genious that they could assimilate the new trends completely and it is very difficult to sort them out precisely and successfully. Any way, if possible, it forms part of an altogether separate and detailed study.

The most common patterns of Indian decorations are geometrical and floral designs, which are followed throughout the country with minor variations. In richness and graceful use of floral ornamentations, which cover the entire available surface, Indian artisans have no parallel although in the drawings of animals and human figures they could not achieve the same standard of anatomical perfection as shown by their European counterparts. Various shapes of common flowers such as lily, lotus, rose and chrysanthemum (guldavadi) ; of birds like parrot and peacock ; of animals– lion, tiger, horse, ram, elephant, dog, camel, hare and antelope ; of hunting or dual scenes, such as, man killing a wild beast—lion, tiger, antelope, a hound catching a hare, a lion fighting an elephant ; and of calligraphy, have been most imaginatively and delicately twisted by the Indian artists to suit all types of irregular spaces while ornamenting the arms and the armours. The patterns are generally drawn from memory while modifying them to fit various shapes and surfaces. The designs though bold in conception are never overcrowded, at least, in better pieces. The lines are free and flowing and in the hands of master craftsmen the results are creative, always aiming at the fine art. In north Indian arms, even the figures of men and animals have been drawn quite faithfully and lifelike, at least from oriental standards. Some times, figures of the dogs, talismanic diagrams and trademark of the artisans also apear on them.

The scenes are taken from everyday life and have been generally subjected to a symmetrical composition. Such has been the versalitity of the Indian craftsmen that even under the limitations of tradition and conventional treatment, the creativity or the spirit of the subject never dampened.

Excuberance is displayed, whenever, the form of the arm or armour permitted it, but, the ornamentation is never "flamboyant". Atleast, it never happened before the middle of the last century, after which Indian Decorative Arts, on the whole, started declining very fast.

The Indian artists have spared nothing. No arm or accoutrement of any shape or size, have been difficult for them to handle, No shape was too difficult for them to utilise for various ornamental purposes. Swords and daggers ; guns, pistols and cannons ; bows and arrows ; lances and spears ; hatchets and maces ; shields and armours ; powder–flasks and belts have all been successfully decorated.

The materials used in these ornamentations are wide and varied, ranging from ordinary metals, like, iron, steel, brass, copper and bronze to precious metals-silver and

gold. Besides, jewels, precious stones, enamelling, glass, wood, lac, ivory, paper-mache, leather, textiles and feathers have been found suitable for this purpose, in one or the other form.

The techniques adopted in ornamentation are as varied and interesting. It will not be possible to cover all of them. Therefore, some important techniques are given below:

Jauhar : It is a process of watering the steel blades and barrels by forging-twisting and welding-in a variety of ways the bars of different composition and hardness of iron, which is then successively polished and etched with 'kasis' (ferric sulphate). It results in peculiar markings of wavy lines of different shapes and hues of grey colour-dark grey, yellowish grey, bluish grey, silvery grey, etc. The steel thus obtained is popularly known as Damascus steel, only because it was introduced into Europe from Damascus. The patterns are known by different names, such as, Akbari (Skein of silk), Begami (waves like watered silk), janjira (chain), pigeon's eye, lover's know, etc. depending on their shapes, which are obtained only by cleverly manipulating the number of the rods and the way of twisting and welding them.

Watered steels are peculiar to the East only. Besides India, other famous centers are Turkey, Malaya, Persia and Japan, the last two being more famous for fine watering. For this purpose, with the only exception of Japan, Indian iron has been invariably used in all other places. The iron was obtained from the black-smiths of the Nirmsal (Hyderabad) and Indore districts and was exported in large quantities until about eighty years back, from "Cutch to the ports on the Persian Gulf".[3]

The technique of 'Jauhar' has been discussed in details by Egerton and need not be repeated here. Only a brief method is quoted :

"The mines are mere holes dug through the thin granite soil, and the ore is detached by small iron crowbars; it is then collected and broken by means of a conical-shaped fragment of compact greenstone and when too hard it is previously rosted. The sand thus procured is washed, and the heavier parts separated by this process are smelted with charcoal in small furnaces four or five feet high and five feet in diameter, sunk two feet below the surface of the ground. The fire is kept up by a blast from four bullock skins placed at right angles to each other, the muzzles resting on the upper edge of the furnace so as to force the blast downwards. The bellows are plied night and day, and during the operation the men are relieved every four hours, each working twelve hours out of twenty-four. The iron is obtained in a
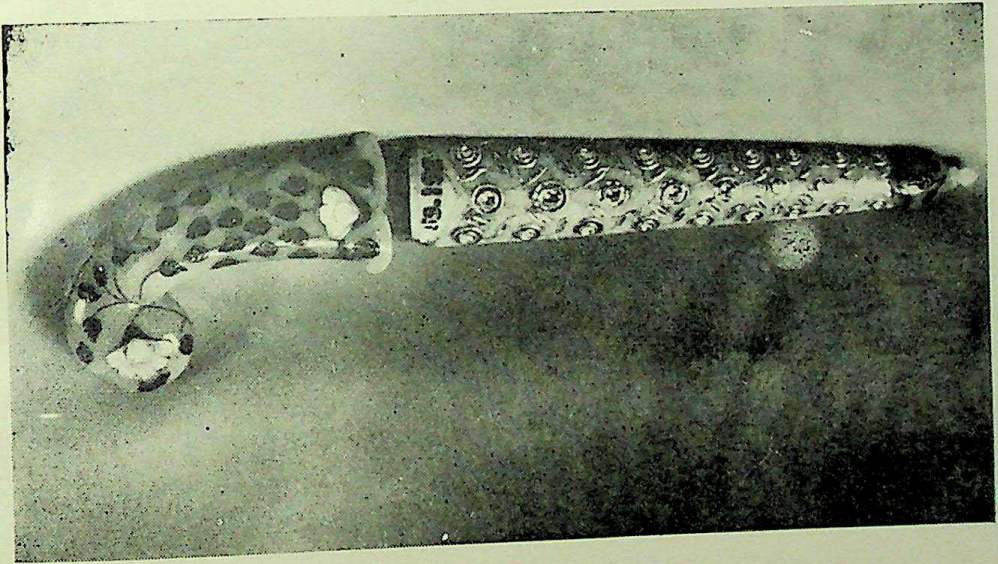
Dagger of Yashab studded with Precious Stones, 19th Cent.
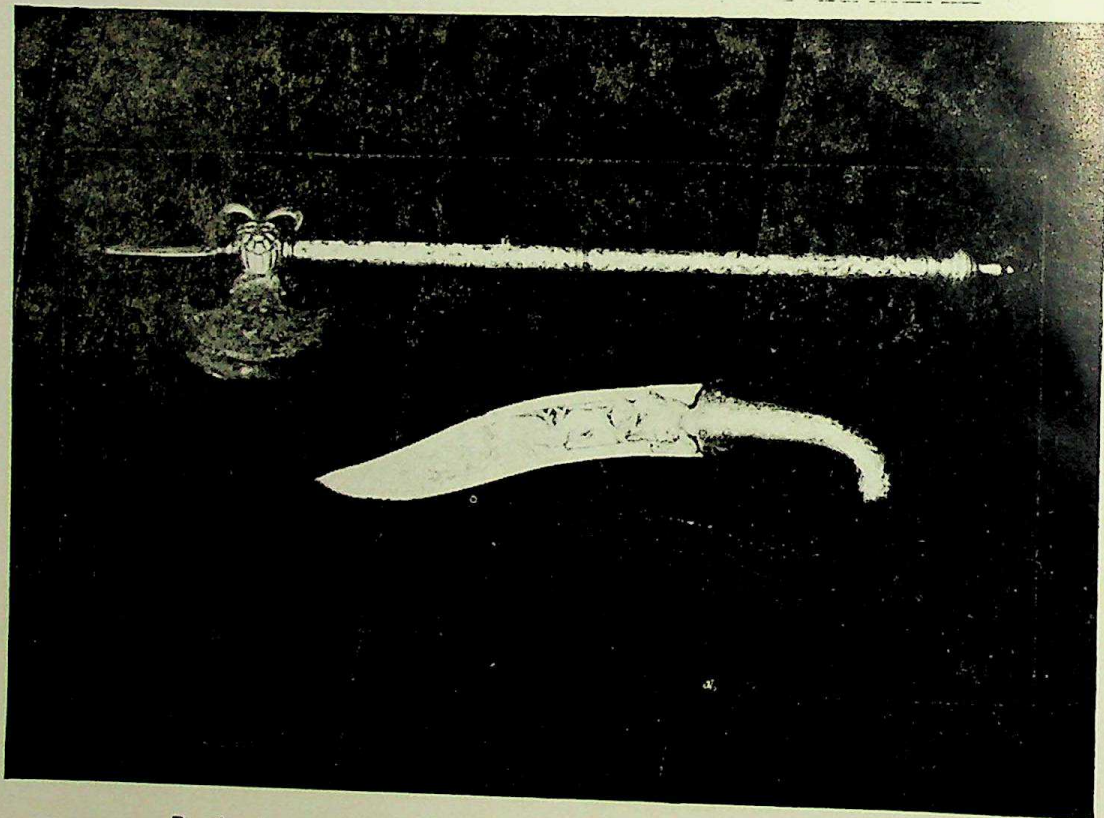
Battle-Axe, 19th Cent.

Khanjar, 19th Cent.

malleable state, and being cut into pieces of about one pound in weight is converted into steel by putting it into crucibles of various sizes, according to the purposes for which the steel is to be applied. The fire is then kept up for twenty-four hours with the dried branches of teak, bamboo, and green leaves of various shrubs as the natives believe that the different kinds of woods employed in both processes have a decided effect in producing different qualities of iron or steel. It is then allowed to subside, and the crucible is placed on the ground to cool gradually, so that the particles from crystals, from which the 'Jauhar', or beautiful combinations so much prized in the sword blades, are obtained. When cold it is opened and a cake of great hardness is found, weighing on average about a pound and a half. The cake is covered with clay and annealed in the furnace for twelve or sixteen hours; it is then taken out again and cooled, and the process is repeated three or four times till the metal is rendered sufficiently soft to be worked. Each sword generally is made of two small cakes, which are formed into bars and afterwards welded together. The 'Jauhar' is generally distributed evenly over the whole blade, but in some of the most prized there is a horizontal or oblique band running across at intervals of about one or two inches, which is called Mahomet's ladder".[4]

The technique has been used principally for making the blades of daggers and swords and barrals of pistols and guns. Sometime, other articles, like, armours and shields were also made. Famous centres for this art have been Punjab, Sind, Rajputana, Kashmir, Delhi, Lashkar (Gwalior). True 'Jauhar' is now an art of the past.

Imitation 'Jauhar' has also existed in India[5] and is sometimes produced even today specially while forging the arms to look old or antique. It is obtained simply by tracing the design after coating the metal with wax and exposing the article to the action of iron sulphate.

Inlaying : It is a process of decorating one metal or material surface by the inlay of another metal or material. This is by far the most popular method of ornamenting weapons. There are several ways of doing it.

The simplest method of inlay is to glue or paste one metal in patterns on another. Strictly speaking, it is not inlaying, though the effect when neatly done is quite the same. In India this was done on cheaper arms only when gold or silver leaf, cut to size, was pasted to the object.

Another method is fire guilding, which also produces a similar effect as inlaying. In it the gold or silver is mixed with mercury and formed into a fine paste (amalgam). This paste is pressd against the base of the article to be decorated, which is then heated to drive off the mercury, thus leaving the precious metal well adhered to the base. The results are very good and the ornamentation wears well if the object is protected against abrasion, but since the layer of the decorative metal is very thin, it wears off early due to constant use. This practice, though, very popular in Europe, was seldom used in India and the Orient.

The third method is known as false damascening by the English and 'Koftgari' in India. In it the surface to be decorated is scratched or hatched across by means of a pointed tool–'cherma'– framing sharp lines in all directions according to the design with the burrs left attached along the hatching. The gold or silver wire is then fastened into the roughened surface by a few blows of a hammer and a punch and this process of puuching of the wire is continued all along the scratched lines, bending the wire forward or backward as may be required by the pattern till it is firmly adhered·in the shallow grooves and the decoration is complete. The articla is then exposed to mild heat and polished by an agate 'moohri' and finally cleaned by lime juice. If properly executed the effect is good and the workmanship is durable.

The fourth and the best method is called true damascening in English and 'tah-i-nishan' in India, In it the pattern is cut in fairly deep grooves by first heating the object to a blue tint and then working on it with a graver or 'qalam'. The depth of the grooves is kept about two-third of the diamefer of the gold or silver wire and all the roughness of the base metal is left so that the precious metal could adhere firmly. After the engraving is complete, the artisan works on the gold or silver wire and fixes it into the hollowed channels with a copper bodkin. a type of blunt chisel or probe, which is then hammered flat on the surface of the article. In case the pattern is desired to be in relief, the hammering is done with a blunt chisel having a grooved face and a hammer, carefully manipulating the strokes. Often the projected gold or silver is chased or carved. It is then finally cleaned with fresh lime and polished with an agate piece.

Yet another technique of inlaying on metal is known as 'Bidri'. It is peculiar to India alone and had acquired its name after a place- 'Bidar' near Hyderabad. Precise details of this technique may be studied in the Journal of Indian Art and Industry. Here it may be sufficient to say that Bidri ware is made of a composite alloy of copper and zinc to which lead, tin or iron powder is added as at Bidar, Murshidabad and Lucknow, respectively. The proportions of the metals vary. The

articles which in our context, are generally handles (hilts) and shields, are casted in earthen moulds into the required shape. The rough shape thus obtained is finished into the desired form on a lathe by another set of craftsmen. After this is done the work is delivered to the engraver, who first treats the article with a solution of copper sulphate *(tootia)* which gives the surface a temporary black colour. He then carves out the portions according to the design with sharp pointed chisels of various shapes and sizes after the whole design has been traced on the object. The cavities are then filled with the gold or silver wire. which is hammered into the hollowed parts. The article is now heated so that the inlay is used with the base. A polish is given by first burnishing it with a compound of shell lac and corundum powder and finally with a piece of charcoal. The object is now ready to receive a permanent black colour, which is given to it by applying a paste of saltpetre, salammoniac, etc., leaving it to dry thare. After about four days, the object is cleaned with water and treated with sweet oil, which leaves the gold or silver decorations glow against shining black background.

Best damascening was done in India at Delhi and Lahore. Until very recently almost all the courts of the erstwhile states had 'Koftgars' which were capable of damascening the weapons of their masters and the nobles in the good old style, but this art has almost died out now, at least in the quality.

All sorts of arms and armours have been decorated by this technique, but, hilts, blades, armours and shields have attracted the attention of the 'Koftgars' more. Shields offer a rich field for the artist to work with gold. The patterns have been generally floral, arabesque, shikargah and the inscriptions in Arabic, Persian and other regional languages giving, either, the verses from the Holy books (Quran, Gita), or the names of the prophets, kings and the craftsmen, sometimes the date and place of manufacture.

Enamelling : The art of vitrification or enamelling *(minakari)* is a very ancient art. Laberte believes that this art originated in Phoenicia from where it found its way into Persia and through Persia it reached India.

The earliest and also the best axample of Indian enamelling is the crutch staff of Maharaja Man Singh of Jaipur, who was one of the nine jewels at the court of Akbar. It is second to none in the world enamels in the brilliancy, evenness and purity of colours. Fifty-two inches in length, the staff is composed of thirty-three cylinderical segments made of gold which are arranged on a central core of strong copper. The staff is surmounted by a crutch of light green jade set with gems. Each

of the thirty-two upper cylinders is painted in enamel with figures of animals, landscape and flowers, which have been boldly drawn with great accuracy. No Persian specimen, whether, ancient or modern, can compare with this magnificent art work in elaborateness of design, brilliance and purity of colour tones.

There are several ways in which enamelling can be done, but only two are generally followed throughout the world. One is called 'Cloisonne', and the other 'Champlove'. In the former, the raised outline to receive the enamels are formed by soldering thin silver strips so as to out-line the patterns on the object. In the latter the patterns are engraved by cutting away troughs or cells in the object, leaving a metal-line raised between the cavities, which forms the outline of the design. In India 'Champlove' method is generally followed.

The design is prepared by the *Chitera*. The articles, like sword or dagger hilts and scabbord-decorations, etc., are made by the *sunar* (gold-smith,) which are then passed on to the *garhai* (engraver) who engraves the patterns on them The engraving is done with steel stylus (qalam) and thereafter polishing is done with steel tools and agate stylus. The bed or surface of the cavities is sometime finely hatchad which, in addition to help the enamel stick firmly to the base, incrises the play of light and shade through the transparent colours of the Indian enamels, thereby adding to its brilliance. The article is now handed over to the *minakar*, who applies colours in order of their hardness—white, blue, green, black and red,—after carefully burnishing and cleaning its surface so that it is free from oil and grease. The *chura* (enamel dust) is mixed with water and made into a paste, which is applied into the cavities by means of a probe. When all the cavities are filled with the paste, the article is put on a piece of talc and heated over a glowing fire in a primitive furnance, which is "sunk into the ground about a foot and a half, with a passage below for the art, and for supplying fuel, over it is placed a thin covering of clay in which are ome tubes for the draught, and under which small earthen vessels, holding the fixed glass, are placed, round which the flame issuing from the air tube plays," (Egerton, p. 70). The colouring matters which are the oxides of metals, like, iron, copper, etc. are added in order of the colour preferences on the glass, while firing. A constant watch is kept throughout the firing operation and heat is kept controlled. When the melting is completed, it is allowed to cool. The article is then burnished with *kurand* (corundum) to give it a polish. It is then examined, and if all the colours are perfect and no defect is detected the article is mildy heated and cleaned by repeated immersions in a strong solution of some fruit acid.

Jaipur has been most famous for enamelling and best quality of mina-work was done on gold alone. But silver was mostly used for enamelling arms and accoutrements. Other centres for gold mina have been, Ulwar, Delhi and while those for silver were Kashmir, Jaipur, Lucknow, Kullu, Kangra, Sind (Hyderabad), Karachi, Lahore, Kutch and several other places.

Niello : Quite similar to enamelling is the technique of Niello. It is an art of fusing together silver, copper and small quantity of lead in certain proportions and then mixing the melton alloy with sulphur. The black product thus obtained is used for decorating the handles of the swords and daggers and their sheath–mounts.

Originally a Persian technique was followed in India in Sind alone. In it, the article, generally handles made of silver, is carved with interlacing foliage patterns showing flowers and birds. Into these carvings is put a black composition of silver, copper and lead. The hilt is heated and rubbed with borax. On strongly heating now the niello melts and fills the cavities. It is then allowed to cool and then finally polished.

Stud–Work : The process of setting jewels on gold, silver or jade, etc. is known as stud-work.

Jewels are valued for their brilliant colour effects and, therefore, diamonds, rubies, emeralds, sapphire, pearls, topaz, and coral have been frequently inserted in enamel or jade, in floral patterns, so that they may add to its beauty and brilliance. For this purpose, left-over pieces or second quality gems are generally used in arms, yet, the effect is superb.

The gems are cut on an indegenous lathe. Even now, one can see a Jaipur gem-cutter using this out-dated equipment. The process is slow and painstaking, but the results are fine. Jaipur gemcutters have earned a great name for their fine workmanship.

After the jewels are cut and modelled, these are passed on to the gem-setters, who set them on the article. The method varies with the material on which the setting is required to be done.

In simple stud-work, the gold article, generally hilt or sheath mounts which is previously carved with holes or cavities for receiving the gem, is firmly attached to a wooden handle (hundi) by warming shellac and the holes or cavities are lined with a preparation of a mixture of antimony and *chapra* or lac. The article is heated and jewels are placed on each cavity according to the design. Heat causes the lining to expand and melt. On cooling the jewels are firmly set. Excess lining that accumulates round the gems is scratched away with a stylus and fine gold is sprinkled over the exposed edges and pricked in such a way that it displaces all the wax. The edges are then finally polished.

In enamel, the jewels are placed on the desired spots during the fusion of the vitreous matter in the furnace.

Yet, a third method is known as 'Kundan' work, in which heat is locally applied on the edges only by blowing the flame of a wicklamp (diya) with the help of a small blow pipe (phukani) and after the edges become soft, these are picked and set from all the sides of the gems in such a way that only its face is open and the remaining part is firmly imbedded. This art is now applied to ornaments only.

The best work in this catagory came from Delhi specially during the Mughal period. Artistic work also came from Punjab, Kashmir, Rajasthan, Agra and Avadh.

The art is very old, though its origins are obscure.

Apart from these, there are scores of other techniques which have been employed for ornamenting the Indian arms, but, I would like to emphasize one only. These are jade carvings, which have been mainly used as ornamented hilts of the daggers or swords, and crutches.

When plain, the handles are carved in the shape of some animal's head in a very graceful manner, or, the pistol-grip-shape is carved in low relief with floral pattern. When studded diamonds, rubies and emeralds, are judiciously laid along with gold in floral or interlacing creeper pattern.

The material used in the Indian carvings was nephrite, generally white or pale green. It was imported from Khotan or Yarkand.

It is generally believed that jade carving began in India towards the end of the 16th century when the Mughal emperors attracted by its simple grace of colour and

lust patronized it. and some of the best carvings in jade were produced during their times in the 17th and the 18th centuries.

In the end, I would like to emphasize, that due attention had not been given to study such rich material of Indian Decorative Art, nor are any serious efforts made to study the vastly scattered material in recent years. "Since the publication of the Ain-i-Akbari in the times of Akbar", says Egerton, "no detailed description of Indian arms have appeared" Even the pioneer work of Egerton, which is about eighty years old, requires further elaboration and explanation about the nomenclature, construction, decoration, usage, variation etc., found in the arms and accoutrements in different parts of India. Influences of foreign art, especially from Persia, on Indian arms origins of the various decorative techniques and their historical development, are some problems which require fuller investigations.

NOTES

1. Lord Egerton of Tatton, Indian and Oriental Armour, 1896, p. 45.
2. Ibid, page 46.
3. Cf. Egerton of Tatton, Indian and Oriental Armour, 1896, p. 56.
4. Ibid, pp. 56-65.
5. Ibid, p. 62.

Sri M. C. Pande, Curator Indian Military Academy Museum, Dehradun.

MUSEUM PUBLICATIONS FOR SALE

Books	Authors	Price Per Copy
1. Catalogue of Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow, Part I	Dr. N. P. Joshi	26.00
2. Catalogue of Gandhāra Sculptures in the State Museum, Lucknow	Dr. N. P. Joshi & Sri R. C. Sharma	17.35
3. Catalogue of Indo-Greek Coins in the State Museum, Lucknow	Dr, A. K. Srivastava	9.72
4. Catalogue of Śaka Pahlava Coins of North India in the State Museum, Lucknow	Dr. A. K. Srivastava	16.00
5. Supplementary Catalogue of Mughal Coins in the State Museum. Lucknow	Sri C. R. Singhal	20.00
6. Coins Hoards of Uttar Pradesh in the State Museum, Lucknow. Vol. I	Dr. A. K. Srivastava	27.00 (Bound) 22.00(Paperbound)
7. Mathurā Ki Murtikalā (Hindi)	Dr. N. P. Joshi	20.00

Research Journals

Bulletin of Museums & Archaeology in U. P.	
Nos. 3 to 18	3.00 (Per No)
Nos. 19–20 June-Dec. 1977 (Joint issue)	10.00
Nos. 21-24 June 1978—Dec. 1979 (Joint issue)	20.00
Nos. 21–24 Krishna in Art (Delux Library Edition)	60.00
No. 25 Index Issue	6.00

Note : Prices are liable to change; Postage extra. Attractive terms for Booksellers. Contact the Director, State Museum, Lucknow-226001. Phone No. 43107.

राज्य संग्रहालय, लखनऊ के बिदरी के कलात्मक पात्रों पर नवीन दृष्टि

शहीर मुस्तफा नकवी

अमावस की काली रात में जगमग करते हुये तारों की छटा का प्रभाव ज्यों का त्यों उतार कर रख दिया है लखनऊ और अन्यत्र के विदर–साजों (बिदरी के कारीगरों) ने अपनी कलाकृतियों में जिनके अच्छे उदाहरण राज्य संग्रहालय के बिदरी पात्रों के संग्रह में उपलब्ध हैं।[1] मिश्रित धातु की काली चमकीली सतह पर जगमगाते हुए चाँदी के तारों और पत्तरों से सुन्दर अलंकरण की शैली का नाम बिदरी इसके उद्गम स्थल बिदर अथवा बीदर (जो दक्षिण भारत में हैदराबाद से लगभग १२८ कि०मी० उत्तर पश्चिम में स्थित है) के नाम पर सम्भवतः पड़ा होगा।

भारत में बिदरी अलंकरण का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। दक्षिण भारत की एक प्रसिद्ध अनुश्रुति के अनुसार ११वीं शती ई० में किसी अब्दुल्लाह बिन कैसर[2] ने सर्वप्रथम इसका आविष्कार भारतीय सुनारों के साथ मिल कर किया था। लखनऊ के कारीगरों के अनुसार बिदरी (जिसे वे लोग बिदर–साजी कहते हैं) शुद्ध भारतीय शिल्प है और वे उस पर सीरिया अथवा ईरान के प्रभाव को स्वीकार नहीं करते हैं।[3] उनकी धारणा है कि यहां पहले से पात्रों पर कलात्मक अलंकरण की शैली जरबुलन्द प्रचलित थी।[4] जिसे अवध के नवाबों के शासन काल में बिदर से बुलाये गये कारीगरों अथवा बिदरसाजों ने नवीन ढंग से रंगने के तरीके आदि बताकर परिष्कृत किया। डा० बेंजामिन हैनी[5] इसके उद्गम को हिन्दुओं के धातु के कलात्मक पात्रों से भली भांति परिचित होने का प्रमाण मानते हैं जब कि मेहता[6] इसे बीदर के किसी हिन्दू राजा द्वारा पूजा के पुष्पों को सजाने के हेतु फूलदानों के अलंकरण में प्रयोग की जाने वाली शिल्प के रूप में मान्यता देते है। स्पीट[7] ने इन शिल्प के प्रारम्भ को बहमनी राजवंश के पतनोंमुख इतिहास से जोड़ा है तथा १६वीं शती के प्रथम दशक को सर्वंप्रथम बिदरी के पात्रों का निर्माण काल घोषित किया है। लखनऊ में इस शिल्प का प्रारम्भ दो सौ वर्ष बाद नवाबी युग में माना जा सकता है।

दक्षिण भारत तथा लखनऊ के अतिरिक्त बिदरी का काम मुर्शिदाबाद (बंगाल), पूर्णिया (बिहार), वाराणसी तथा जौनपुर (उ०प्र०) तथा काश्मीर में भी हुआ करता था। वर्तमान रूप में हैदराबाद को छोड़कर बिदरी का काम उपरोक्त किसी भी केन्द्र पर नहीं हो रहा है।

बिदरी के कलात्मक पात्रों को बनाने के हेतु मिश्रित धातु का प्रयोग किया जाता था, जो मूल रूप में ९० प्रतिशत जस्ते तथा १० प्रतिशत तांबे का मिश्रण होता था। विभिन्न केन्द्रों पर इस मिश्रण में कुछ कमी–बेशी भी की जाती थी तथा इसमें कहीं-कहीं सीसा अथवा टिन भी मिलाया जाता था। लखनऊ के पात्रों के भारीपन को देखकर कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें लोहा अथवा फौलाद का पाउडर भी मिलाया जाता था।[8] लखनऊ के कारीगर इस मत का जोरदार खण्डन करते हैं लेकिन रोचक बात यह है कि हाल ही में इस संदर्भ में कराये गये रसायनिक परीक्षणों [9] से लखनऊ के बिदरी के पात्रों में लोहे अथवा लौह तत्व के होने के स्पष्ट संकेत मिले हैं। किन्तु मैं अब भी लखनऊ के कारीगरों के मत की पुष्टि करते हुये दावे से कह सकता हूं कि लखनऊ के पात्रों में कभी लोहा नहीं मिलाया गया फिर यह लोहे के कण कहाँ से आये। इस सम्बन्ध में दो तथ्य निम्न रूप में प्रस्तुत हैं।

सर्वप्रथम तो यह कि बिदरी के काम में जो भी धातुयें प्रयोग में लाई जाती थीं उनका कुछ निश्चित प्रयोजन होता था उदाहरणार्थ जस्ता सतह को मुलायम रखने के लिए, तांबा विभिन्न रसायनों के मिश्रण के कारण रंग से सम्बन्धित रसायनिक प्रभाव के लिए और सीसा तैयार पात्रों में जहाँ अधिक खुदाई हो जाती थी उस स्थान को भरने के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु लोहे के प्रयोग के पीछे ऐसी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती जब कि इसके प्रयोग से रसायनिक प्रभाव में कमी तथा सतह के कड़ा होने जैसी बाधाएं आने की अधिक सम्भावना थी। कुछ विद्वान कहते हैं कि वजन बढ़ाने के लिए लोहे का प्रयोग किया जाता था किन्तु लखनऊ के कारीगरों का मत है कि वजन अथवा भार का घटना बढ़ना मिश्रण के अनुपात पर निर्भर करता था अन्य भारी धातुओं के मिलाने पर नहीं। पुराने पात्र अधिक भारी होते थे नये कम वजन के होते थे। लखनऊ के अंतिम बिदरसाज स्वर्गीय मिर्जा नादिर बेग ने सर्वप्रथम मिश्रण का निश्चित फार्मूला निकाला जो बिदरी का सामान्य मिश्रण अर्थात् ९० प्रतिशत जस्ता तथा १० प्रतिशत तांबा रहा।

लौह तत्वों की उपस्थिति का मेरे मतानुसार मात्र कारण उस पात्र की लोहे के दर्जे (सांचे) में ढलाई हो सकती है क्योंकि लखनऊ में लाल मिट्टी के अतिरिक्त लोहे के दर्जों अथवा सांचों का प्रयोग पात्र की ढलाई के लिए किया जाता था अतः दर्जे का लोहा आंशिक रूप में पात्र के मिश्रण में मिल सकता है। यही कारण है कि लोहे का मिश्रण ११ प्रतिशत तथा कहीं कहीं केवल आंशिक रूप में प्राप्त हुआ है।

पात्रों को बनाने में तीन प्रक्रियाओं से गुजरना होता था। सर्वप्रथम ढलाई होती थी, फिर उस पर तार अथवा पत्तरों की जड़ाई अथवा चढाई की जाती थी और अन्त में उसकी रगाई और पालिश की जाती थी। ढलाई में दर्जे को मोम अथवा रेजिन से ढक दिया जाता था उस पर लाल मिट्टी चढ़ा दी जाती थी फिर उसमें पिघला हुआ धातु मिश्रण डालते थे जो मोम को पिघला कर उसके स्थान पर वांछित

आकार में ढल जाता था। अब पात्र अथवा पुर्जे को छेनी और खराद की सहायता से मामूली तरह से चिकना कर दिया जाता था तदोपरान्त तारों अथवा पत्तरों की जड़ाई से पूर्व सतह पर खुदाई करते थे जिसे नुकीले औजार 'खोदनी' के प्रयोग से किया जाता था। इसे 'जमीन खाली करना' कहते थे। यह प्रक्रिया वांछित आकृतियों तथा अभिप्रायों के अनुसार बार बार दुहराई जाती थी। इस गहरे किये गये स्थान की दीवारों में बहुत ही कुशलता पूर्वक एक मि०मी० की गहराई के खाँचे अन्दर की ओर बना दिए जाते थे। जिसमें तार अथवा पत्तर को फँसाया जाता था। ये तार या पत्तर शुद्ध चांदी के होते थे जिन्हें छेनी और हथौड़ी की सहायता से छेदों में फंसा दिया जाता था। आवश्यकतानुसार इसे पुनः गर्म किया जा सकता था और उसके बाद फिर सतह को रेती से अच्छी प्रकार चिकनी कर दिया जाता था। अब तैयार पुर्जों पर पालिश और रंगाई होती थी जिसके लिए लखनऊ में तूतिया यानी नीले थोथे को खुरदरी सतह पर चारों ओर लगाकर उसकी सफेदी और चमक कम कर दी जाती थी जब कि दक्षिण भारत में मिश्रण को तूतिया के घोल से और अधिक काला और चांदी को इस काली पृष्ठभूमि में और अधिक चमका दिया जाता था। फिर रेगमाल अथवा बलुए कागज, गरी (नारियल) के तेल ओर कोयले को मिलाकर उस पर पालिश करके चमकाया जाता था। दक्षिण भारत में रंगने के लिए लोना मिट्टी (जो केवल बीदर के किले से प्राप्त होती है) का प्रयोग किया जाता था जबकि लखनऊ में साधारण लोना (जो पुरानी इमारतों से प्राप्त होता था) नौसादर में मिलाकर रंग के रूप में प्रयोग किया जाता था। रंगने की इस प्रक्रिया में भिन्नता के कारण दक्षिण भारत का पात्र गहरा काला (जेट ब्लैक) होता है जबकि लखनऊ का पात्र भूरापन लिए काला (स्टील ग्रे) होता है। लखनऊ में रंगने के बाद धूप में सुखाकर पुर्जे को रेगमाल, कोयले और बानात के नमदे (सुतली से बने टाट) से कडवे तेल (सरसों के तेल) में डुबोकर पालिश करके चमकाया जाता था।

लखनऊ में बिदरी के प्रमुख पुराने कारीगरों में मुल्लन बेग, कादर बेग, चंदू बेग (अंतिम दो को १९०३ की दरबार प्रदर्शनी में इनाम भी मिले थे) आदि थे। अभी हाल में ही मुझे 'रिसाला आइने–बिदरसाजी'[10] जिसे मुहम्मद अली बिदरसाज ने १८८६ ई० में शर्फुल–अनवार नामक प्रकाशित कराया था देखने का शुभवसर मिला जिससे बिदित होता है कि पुस्तक वास्तव में तत्कालीन बिदरसाज मुहम्मद अली ने इंगलैंड में १८९३ में होने वाली नुमाइश के मूल्य-सूची–पत्र (प्राइस कैटलाग) के रूप में बनवाया था। इसमें एक ऐसी तश्तरी का चित्र भी छपा है जो वर्तमान रूप में राज्य संग्रहालय के संग्रह में विद्यमान है जिसके सम्बन्ध में आगे चर्चा की जायेगी। लखनऊ के अंतिम बिदरी कारीगर स्व० मिर्जा नादिर बेग थे जिन्होंने इन पंक्तियों के लेखक को लखनऊ के बिदरसाजी के सम्बन्ध में बहुत सी रोचक बातें विस्तार में बताई थीं।

बिदरी का काम मुख्य रूप से ५ प्रकार के प्रभावों को प्रस्तुत करता है :—

१— तारकशी (पतले तारों की जड़ाई)

२— तह निशान (पत्तरों की जड़ाई)

३— जर निशान (सतह से कुछ उभरे हुए अभिप्रायों वाले पत्तरों का प्रयोग)

४— जरबुलन्द (सतह से अधिक उभरे तारों तथा पत्तरों का प्रयोग)

५— आफ़ताबी[11] (कटी हुई आकृतियों वाले पत्तरों को ऊपर से मढ़ना जिससे सफेद सतह पर काली आकृतियां दिखाई देती हैं)

इसी संदर्भ में हाल में श्रीमती कृष्णा लाल, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली ने एक नवीन प्रभाव की सूचना दिया और उससे युक्त पात्र भी प्रस्तुत किए जिसे 'महावतकारी' कहा जाता है।[12] इसमें मोती के समान गोलाकार सतह पर उभरे हुए अत्यन्त सुन्दर लगते हैं किन्तु ध्यान से देखने पर यह भी जरबुलन्द का ही एक रूप लगते हैं भले ही अभिप्रायों में कुछ अंतर हो किन्तु निर्माण विधि समान ही लगती है अतः इसे अलग से प्रभाव न मानकर जरबुलन्द का अभिप्राय ही मानना अधिक उचित लगता है।

यह समस्त प्रभाव साथ साथ अथवा स्वतन्त्र रूप में मिल सकते हैं किन्तु आफताबी और जरबुलन्द का एक ही पात्र पर साथ साथ कम ही प्रयोग किया गया लगता है।

यद्यपि विभिन्न केन्द्रों पर भिन्न भिन्न अभिप्रायों का अधिक प्रयोग हुआ जैसे दक्षिण भारत में पोस्ते के फूल, काश्मीर में कालिका अथवा सरों के बूटों, पूर्णिया में अजदहों, लखनऊ में मछली तथा जलपरियों और चिकनकारी के बूटों की प्रधानता है। फिर भी सभी प्रमुख केन्द्रों पर साधारणतया पोस्ते के पोधे तथा कमल (भारतीय आकृतियां) गुलदस्ते, फुलझरी, सरों के पेड़, (ईरानी आकृतियां) रेखाएं, कोण, बार्डर की आकृतियाँ, चटाई आदि (मिश्री आकृतियाँ), वर्गाकार, फूल-बेलों, पक्षियों और पशुओं आदि का सुन्दर प्रयोग किया जाता था। दक्षिण भारत में वर्तमान रूप में अजन्ता के चित्रों से ली गई आकृतियाँ, लम्वादिनी नर्तकी, राजस्थानी नर्तकी, मोहिनी तथा राशि चिन्हों का भी प्रयोग किया जाने लगा है।

जिन पात्रों को बिदरी के काम से अलंकृत किया जाता था उनमें प्रमुख हुक्का फर्शी तथा मुंहनाल, डिबिया, पन-डब्बे और खासदान, थाली, कटोरे, आफ्तावे (टोंटीदार लोटे), आबखोरे (गिलास), उगालदान (पीक-दान), सैलावची (हाथ धोने का पात्र), मीरे फर्श (फर्श को दबाये रखने के लिए भार) पलंग के पाये, तश्तरियां, छोटी देगची, शृंगारदान तथा स्टेशनरी की वस्तुयें आदि है। आधुनिक युग में बिदरी अलंकरण का प्रयोग बटन, हारों के पेंडेन्ट तथा हार, हेयर तथा ब्रोच आदि में भी किया जा रहा है।

राज्य संग्रहालय, लखनऊ में बिदरी के अलंकृत कलात्मक पात्रों का छोटा किन्तु रोचक संग्रह है जिनकी कुल संख्या ५७ है। इन पात्रों पर तारकशी, तहनिशान, जरनिशान, आफताबी तथा जरबुलन्द सभी प्रभावों का प्रयोग सम्मिलित अथवा स्वतन्त्र रूप में है। अभिप्रायों में मछलियों का जोड़ा (अवध के नवाबों के राज्य चिन्ह से), जलपरियों का जोड़ा (बादशाह वाजिद अली शाह के राजचिन्ह से), अशर्फी बूटी, बूटे की पत्ती, चिकन-बेल तथा पुष्प (सभी चिकनकारी से), तथा यूरोपीय ग्रेटस्क आकृतियां
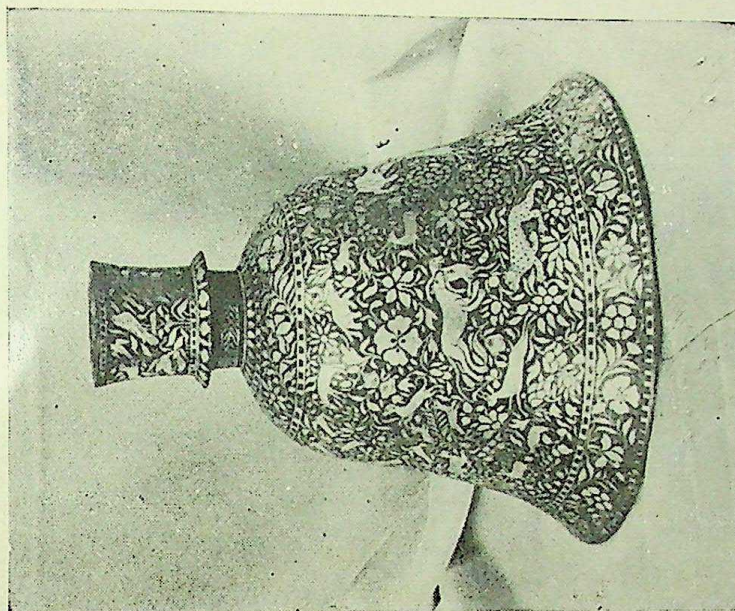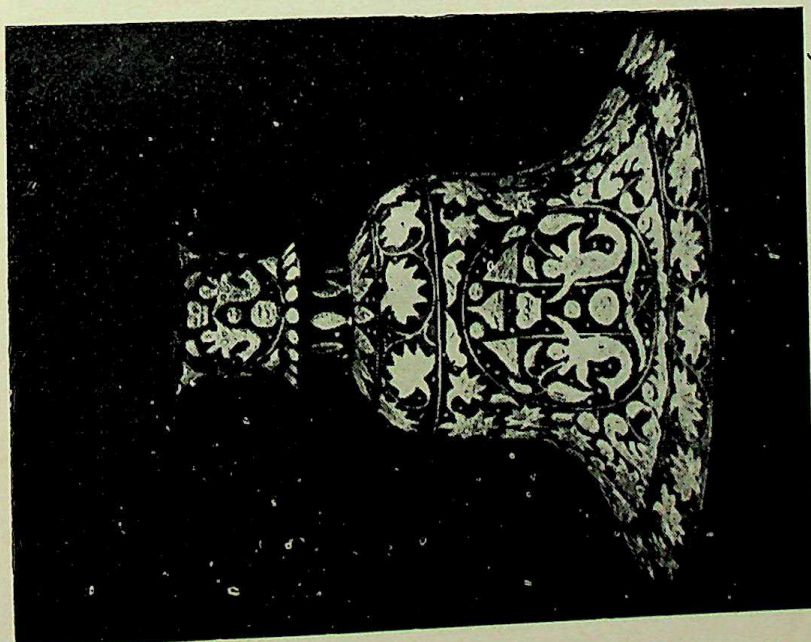
ज़रबुलन्द अलंकरण युक्त हुक्के की फर्शी जिस पर
राज्य-चिन्ह जलपरियों का जोड़ा अंकित है

बिदरी फर्शी, १९वीं शती

फर्शी जिस पर तारकशी का काम है, (दक्षिण भारत)
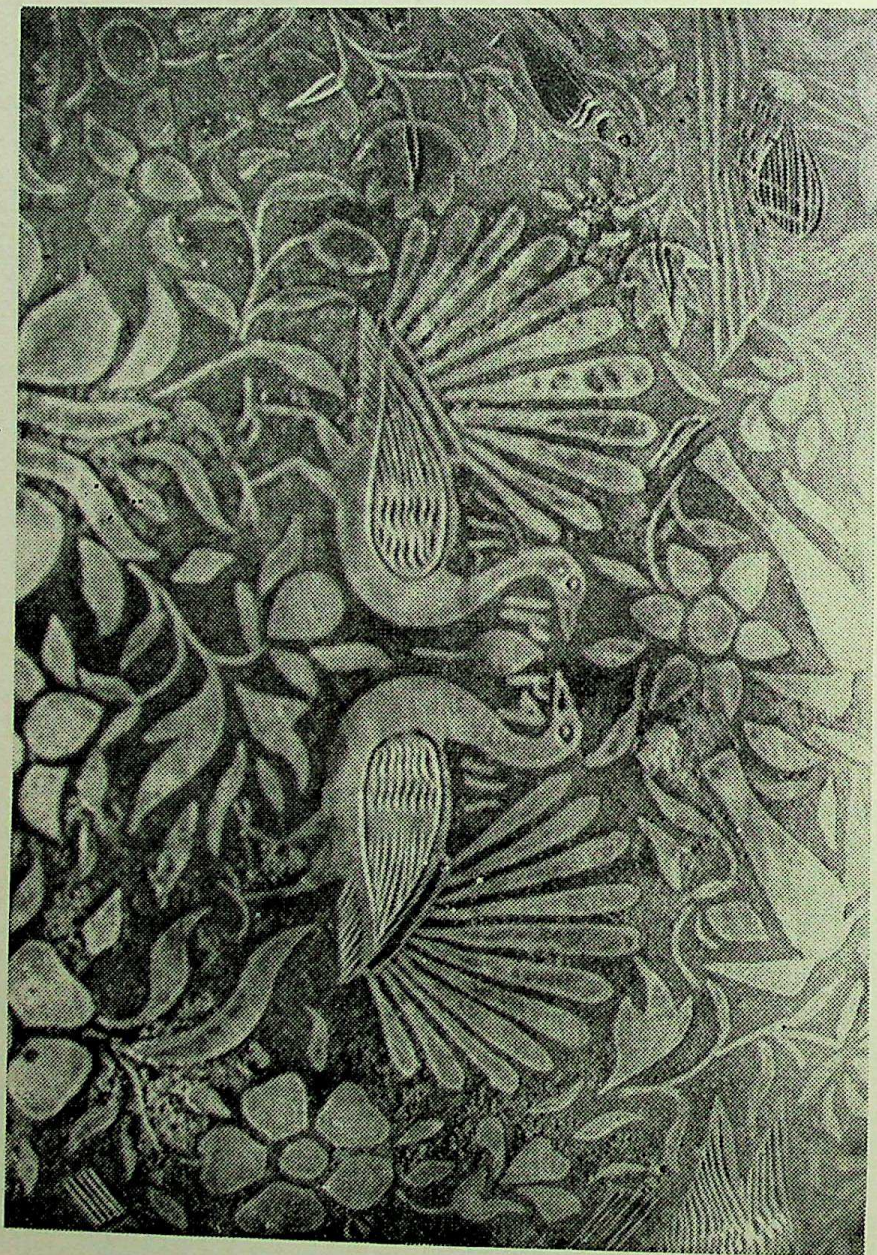
(फूल पत्ती से बनी मानवाकृतियां), चन्द्राकार तथा वृत के साथ ही हाथी, शेर, चीते, हिरण, पक्षी जैसे मोर और कबूतर आदि का प्रयोग इन पात्रों पर मिलता है। दक्षिण भारत से प्राप्त एक फर्शी (६०.३५१) पर वेल पुष्पों के अलंकरण के साथ ही विभिन्न पशु आकृतियों जैसे हाथी, शेर, चीता, तेंदुआ, हिरण, नीलगाय, कुत्ते, बकरी तथा भेंड़ों तथा पक्षियों में मोर, कबूतर, कोयल आदि को तहनिशान में दिखाया गया है। इसी फर्शी के ऊपर दो मोरों के चोच के मध्य तिथि १२२९ हिजरी (लगभग १८५१ ई०) अंकित है फूलों की पतली शाखें तथा बार्डर पर तारकशी का काम है। फर्शी की गर्दन पर मिश्री ढंग का ज्यमितीय रेखाओं का अलंकरण है। यह भी तारकशी में हैं।

एक अन्य फर्शी (५९.१०८) जरबुलन्द के काम की है जिस पर जलपरियों का जोड़ा अंकित है। यह सम्भवतः नवाब वाजिद अली के व्यक्तिगत संग्रह की फर्शी रही होगी इसका अपना ऐतिहासिक महत्व है। इस फर्शी पर कमल के पुष्प का भी सुन्दर अलंकरण है। जरबुलन्द काम के दो अन्य बड़े फर्शी (६३.६३१ तथा ६३.६३२) जो तीन टुकड़ों में विभाजित हैं वेल पुष्पों का सुन्दर अलंकरण प्रस्तुत करते हैं।

आफताबी काम का मुकाबा (६३.६४६) इस संग्रह का अत्यन्त महत्वपूर्ण पात्र है। इस पर सुन्दर ढंग से काट कर पत्तरों की मढ़ाई की गई है। अभिप्राय काले रंग की सतह में बने लगते हैं। चिलम और चम्मल (६३.६४०) तथा (४२.१६) तांबे पर चांदी के बिदरी अलंकरण से युक्त हैं जबकि एक अन्य चिलम पर महाबतकारी से मोती उभारे गये हैं।

इसी प्रकार उगालदान [५७.५०१] पर भी जरबुलन्द की अच्छी कारीगरी है। सम्भवतः पूर्णिया का बना सोने और चांदी दोनों के तारों से अलंकृत फर्शी भी [४१.३४] इस संग्रह का अपने ढंग का अनोखा पात्र है।

इन सब में सबसे पुरानी है वह प्लेट [६७.६४३] जिस पर मछली का जोड़ा बना है और जिसे मुहम्मद अली बिदरसाज ने १८८६ में बनाया था जिसका संदर्भ आइने–बिदरसाजी पुस्तक में है।

इस संग्रह का सबसे छोटा पात्र छोटी सी देगची है जिस पर मछली की आकृति बनी है।

इस संग्रह का सर्वाधिक महत्व यहां के जरबुलन्द के काम के पात्रों के कारण है फिर ऐतिहासिक दृष्टि से दक्षिण भारत की तिथि युक्त फर्शी तथा वाजिद अली शाह के राज चिन्ह वाली फर्शी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यौरोपीय प्रभाव भी इन कलात्मक पात्रों से विदित होता है। इसमें से कुछ पात्रों पर अंकित योरोपीय ढंग के भवनों से तत्कालीन वास्तुकला का बोध होता है।

संदर्भ :-

१— नकवी, शहीर मुस्तफा, 'बिदरी वेयर विद् स्पेशल रिफ्रेन्स टू इट्स कलेक्शन इन द स्टेट म्यूजियम, लखनऊ, जनरल आध इण्डियन म्यूजियम्स, वाल्यूम XXXVI—१९८० पृ० १०१–१०७

२— उपाध्याय, एम० एन०, 'हैंडी क्रेफ्ट्स आफ इण्डिया' (स्वराज प्रेस, सिकन्दराबाद) पृष्ठ ३५

३— नकवी: (ऊपर संदर्भित) पृष्ठ १०२

४— तदेव

५— तदेव

६— मेहता, रुस्तम जे० 'हैंडी क्रेफ्ट्स एण्ड इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इण्डिया' (तारापुर वाला — बम्बई १९३३)

७— स्पीट, ई० ई० 'बिदरी वेयर' – १९३३

८— नकवी, (ऊपर संदर्भित)

९— वर्तमान लेखक से निजी बातचीत में राष्ट्रीय संग्रहालय की डा० श्रीमती कृष्णा लाल ने लखनऊ बिदरी पात्रों के रसायनिक परीक्षणों की चर्चा किया। इस विषय पर डा० श्रीमती लाल ने सविस्तार अपने संग्रहालय के बिदरी के कैटलाग में चर्चा किया है जो प्रकाशनाधीन है अत: यहा उसकी सविस्तार चर्चा नहीं की गई है। फिर भी इन पंक्तियों का लेखक डा० श्रीमती लाल का आभारी है और यहां उसने उक्त संदर्भ में केवल अपने विचार तथा निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं।

१०— वर्तमान लेखक डा० नैयर मसूंद, रीडर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय का उक्त पुस्तक को दिखाने हेतु अत्यन्त आभारी है। इस पुस्तक की प्रथम खोज डा० ममूद के स्व० पिता प्रो० मसूद हसन रिजवी द्वारा की गई थी और उन्हीं के संग्रह में यह पुस्तक उपलब्ध है।

११— डा० श्रीमती कृष्णा लाल से साभार यह सूचना प्राप्त हुई कि आफताबी में जमीन खाली करके पत्तर लगते थे तथा दीवारों में तहनिशान की तरह पत्तर जड़े नहीं जाते थे। यह बड़ा कुशलतापूर्ण कार्य था।

१२— तदेव। डा० श्रीमती लाल इस पर भी विशद चर्चा अपने कैटलाग में कर रही है। अत: यहां केवल संदर्भ दिया जा रहा है।

श्री शहीर मुस्तफा नकवी रजिस्ट्रीकरण अधिकारी, एच० आई० जी०, १०९ अलीगंज स्कीम, लखनऊ।

ब्रज की सज्जा कला

रमेश चन्द्र शर्मा

ब्रज क्षेत्र का आदि काल से ही भारत के सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। कलायें भी यहां आदि काल से पल्लवित होती रही हैं। हिन्दू, जैन तथा बौद्ध तीनों धर्मों का केन्द्र स्थल होने के कारण उनके अनुयायिओं ने अनेक सुन्दर मठ, विहार और मन्दिर बनवाये तथा सैकड़ों वास्तु–शिल्पियों एवं कलाकारों को यहाँ अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवसर मिला। प्राचीन वास्तु अवशेषों से इसका साक्ष्य प्रस्तुत होता है कि भवनों में दैनिक उपयोग की वस्तुओं को अलंकृत एवं अभिरूचिपूर्ण बनाने की परम्परा थी किन्तु अस्थायी प्रवृत्ति के होने के कारण वे माध्यम अब पुरातात्विक उत्खननों में दुर्लभ हैं और जब हम ब्रज की सज्जा कला के सम्बन्ध में विमर्श करते हैं तो हमें प्रचलित कला कौशल को ही आधार मानना होता है।

प्रस्तुत निबन्धों में इसी प्रकार की कुछ सज्जा कलाओं का परिचय दिया गया है जो किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित हैं और परम्परागत शैली का अनुकरण करते दिखाई देती है। यहां की कलाओं को यथार्थ रूप से हृदयंगम करने के लिए उनकी आतमा को समझना भी नितान्त आवश्यक है। ब्रज के अधिकतर कला कौशल एवं दिव्य तत्व के प्रति समर्पित भावना से पल्लिवित होते रहे हैं और वह दिव्य तत्व हैं श्रीकृष्ण जिन्हें शोडष कलाओं का अवतार मानकर रसधाम बताया गया है। अत: यहां की कला का दर्शन और अध्यात्म प्रधान होना स्वाभाविक है। यद्यपि यह तथ्य भारतीय कलाओं के साथ ही न्यूनाधिक रूप में वागर्थाविन्न सम्पृक्त है किन्तु ब्रजभूमि में इसका सुगम साक्षात्कार होता है क्योंकि वल्लभ कुल सम्प्रदाय के वैष्णव मन्दिरों में पुष्टिमार्गीय भक्ति–उपासना के माध्यम से अनेक कलाओं को सेवा भाव के लिए ही अपनाया गया।

वर्गीकरण — ब्रज की सज्जा कलाओं के सामान्य वर्गीकरण का निम्न प्रकार से विवेचन किया जा सकता है :—

१– **चित्रण** — जिसमें सांझी, पिछवई, पर्दे, चौक पूरना, त्योहार और पर्दों पर बनाये गये भित्ति अंकन, गोवर्धन, मिट्टी के बर्तनों पर चित्रकारी, सुराही की प्रणालियां हैं ।

२– **अलंकरण** — इसमें घोड़े का साज, डाक पत्री की सजावट, मिट्टी, चांदी, हाथी दांत की हठरी, लाख का काम, केले का काम, सुदर्शन का काम, सींकों का काम, फूल कलियों के हिंडौले, फूल बंगले, कलियों का शृंगार, जौ की मखमल का काम समाविष्ट है ।

३- **वस्त्राभूषण**— इसमें मुकुट, शृंगार पगड़ी, साफा, अंगरखा, चूड़े, चूडियां, सलमा, सितारों का काम या कारचोवी और जरदोजी आदि सम्मिलित हैं ।

धार्मिक उपकरण :– धातु मूर्तियों, चित्रों, गोमुखी, गंगाजली आदि पर अभिराम अलंकरण और साम्प्रदायिक चिन्हों का निर्माण ।

इस सामान्य वर्गीकरण के अन्तर्गत वर्णित सभी उपभेदों का निबन्ध में विवेचन सम्भव नहीं है अतः अधिक प्रचलित और महत्वपूर्ण सज्जा कलाओं पर ही प्रकाश डाला जायगा ।

सांझी की कला :— सांझी शब्द संध्या से निकला है जिसे साँझ भी कहते हैं । परम्परा है कि शरद ऋतु में संध्या के समय श्री कृष्ण राधा जी को प्रसन्न करने के लिए सांझी बनाते थे । यमुना तटवर्ती वन-उपवनों में बिहार करते समय अनेक प्रकार के पुष्पों को संकलित कर वह उन्हें भूमि पर कलात्मकता से सजाते थे और उस संध्या का वह विशेष कार्य लोक में सांझी नाम से विश्रुत हो गया । ब्रज में सांझी का चित्रण अब भी आश्विन कृष्ण एकादशी से आश्विन कृष्ण अमावस्या तक होता है । कालान्तर में यह कला ब्रज से प्रभावित निकटस्थ राजस्थान के क्षेत्र में भी प्रचलित हुई ।

सांझी बनाने के लिए सर्वप्रथम भूमि को विशेष प्रकार से तैयार करना पड़ता है । भूतल से आठ नौ इन्च ऊंचा प्रायः अष्टास्र पत्थर का गौमय, हींग आदि के लेप से तैयार करते हैं तदन्तर सिन्दूर से रंगी डोरी से योजनाधीन बेलों आदि के स्थान नियत कर लिए जाते हैं । किनारे की सबसे छोटी बेल को मारवाड़ी कहते हैं । सबसे नीचे की बेल गत्ता कहलाती है । मध्य भाग में उपास्य देवता के लिए स्थान निर्दिष्ट रहता है । लता वल्लियों के अतिरिक्त अन्य दृश्यावलियां भी उभारी जाती हैं । यथा स्थान मानवाकृतियां भी बनती हैं । इन सबको बनाने में कागज के कटे सांचे या खाके की सहायता ली जाती है । सांचों के ठीक मिलान करने, निर्दिष्ट स्थानों का स्मरण रखने और उनसे सूखे रंगों का निश्चित गति, उचित मात्रा और सावधानी पूर्वक बुरकने या छानने में ही यथार्थ कौशल है । साँझी संयोजन में वर्ण विधान का विशेष महत्व है अन्यथा पूरा चित्र विवर्ण या फीका दिखेगा । रंग सूखे होते हैं और इन्हें चावल पीसने से सफेद, कोयले से काला, हल्दी से पीला, मिट्टी ईंट आदि पीसने से अन्य विभिन्न प्राकृतिक रंग बना लिये जाते हैं ।

सूखे रंगों में सांझी
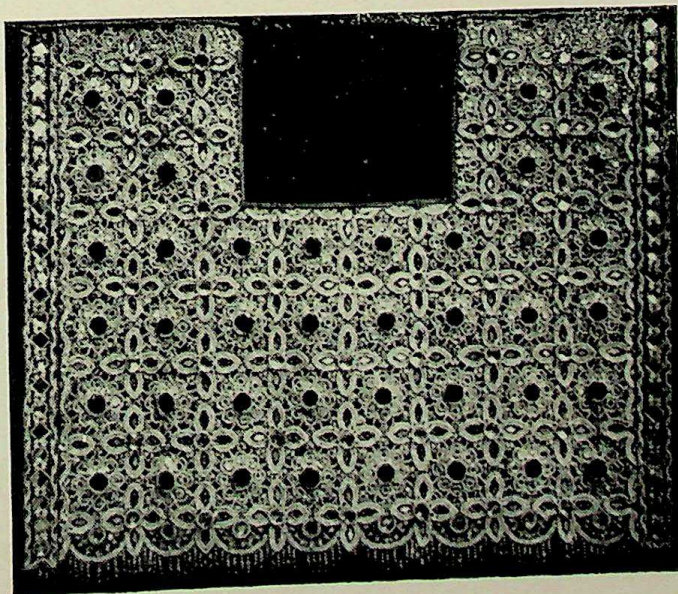
कारचोबी के काम की घोड़े की झूल
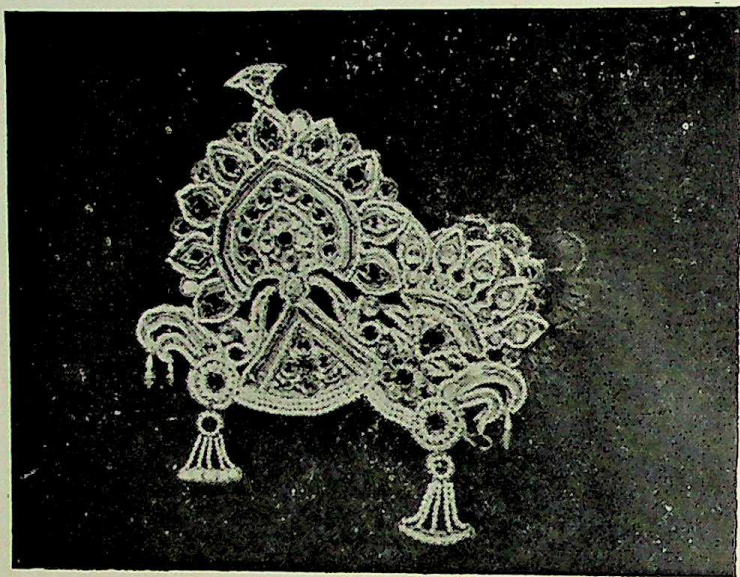
ज़रदोजी में ब्रज रत्न कृष्ण जी का मुकुट
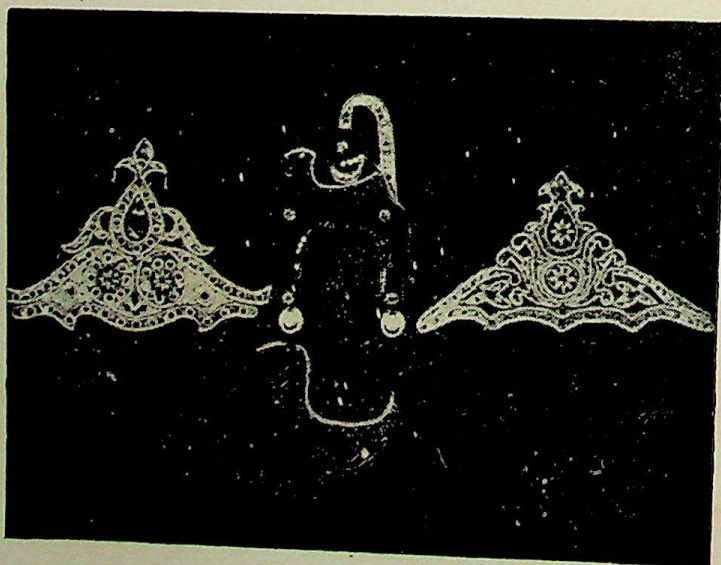
राजाओं के मुकुट, बीच में शिवजी की जटा

कभी कभी पानी पर तैरती सांझी बनती है। विभिन्न प्रकार के फूलों से भी इसका प्रदर्शन होता है। १६वीं शती के प्रसिद्ध संगीताचार्य एवं भक्त कवि स्वामी हरिदास जी ने सांझी के अनेक माध्यम बतायें हैं :—

केसर, चन्दन और अरगजा, मृगमद, कुंमकुंम गारि।
कामधेनु को गोवर लै के, सांझी धरित सम्हारि ।।

पिछवई और पर्दे :— ब्रज में रास का आध्यात्मिक तथा लोकानुरजन दोनों प्रकार का महत्व है और वृन्दावन में तो अनेक रासधारी मंडलियां हैं। रामलीला मंडलियों के माध्यम से खेली जाती है और इनके साथ ही अन्य अनेक नाटक। इनके लिए विविध दृश्यों को प्रदर्शित करने और परिस्थिति के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिए पिछवई और पर्दे बनाने की परम्परा दीर्घकाल से प्रचलित है। पिछवई देवता अथवा स्वरूप के पीछे का होता है और अन्य पर्दे आवश्यकतानुसार यथास्थान प्रयोग में लाये जाते हैं। मथुरा नगर में यह कार्य कुछ स्थानों पर वंश परम्परा से प्रचलित है।

विशेष पर्व और उत्सवों पर भूमि और भित्तियों पर रेखांकन के माध्यम से त्योहारों की दृश्यावलियां खींची जाती हैं जिनमें करवाचौथ, अधोई आठें अधिक प्रसिद्ध है। दीपावली के दूसरे दिन अर्थात् अन्नकूट को गोबर से गोबर्धन की आकृति बनाते हैं जो कृषि से सम्बन्धित उत्सव का प्रतीक है। इसे कौड़ी से आंखें, खील से दांत आदि बनाकर पूरा मानव स्वरूप प्रदान कर दिया जाता है।

मुकुट शृंगार :— रासलीला, रामलीला तथा अन्य नाटकों के स्वरूपों के उपयोग के लिए मुकुट शृंगार और वस्त्र आभूषण बनाने की मथुरा की प्रतिष्ठित परम्परा रही है यातायात और संचार साधनों के वर्तमान समय में द्रुतगामी होने के फलस्वरूप यद्यपि यह कला किसी स्थान या क्षेत्र विशेष में सीमित नहीं की जा सकती और देश के अन्य स्थानों में भी प्रचलित है फिर भी मथुरा इसका प्रधान केन्द्र रहा है। इसमें मुस्लिम सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव है कारीगर भी अधिकतर मुसलमाल ही होते हैं। बनाने की तकनीकी के कारण मुकुट शृंगार और पोशाक की विधि को "जरदोजी" और "कारचोबी" शब्दों से जाना जाता है। पहले राजघरानों में इस कार्य के लिए सोने का प्रयोग होता था इसलिए इसे अब तक "जरदोजी" के नाम से पुकारते हैं। जर का अर्थ है सोना और दोजी का अभिप्राय है कला। अब अलंकरण के सुनहरे काम को जरदोजी कह दिया जाता है। मुकुट शृंगार आदि के बनाने में "कारचौब" का बढ़ा महत्व है और यही इनका आधारभूत माध्यम है। इसीलिए इसे "कारचोबी" भी कहते हैं कारचोब लकड़ी का एक चौखट (अड्डा) होता है जिसमें शृंगार सम्बन्धी सामान को बनाने के लिए चमड़े को तान कर फंसा दिया जाता है और इस अड्डे पर कार्य आरम्भ करते हैं।

सबसे पहले योजनाधीन कागज पर वस्तु की साधारण पैन्सिल से आकृति खींचते हैं जिसे "खाका" कहते हैं तत्पश्चात् इस खाके में पिन अथवा सूई आदि बारीक चीज से छेद कर दिये जाते हैं और इस प्रक्रिया को "गोदना" कहा जाता है तदनन्तर कोयले के चूर्ण से छेद वाले कागज से अड्डे पर लगे कागज और चमड़े पर उस आकृति का अक्स उतार लिया जाता है और इस विधि को "झाड़ना" कहते हैं। उस झड़ी हुई आकृति को पैन्सिल से अधिक स्पष्ट कर लिया जाता है और इसे "लिखना" बोलते हैं। इस प्रकार इन विधियों से उद्देश्य वस्तु की आकृति "कारचोब" पर उतर आती है और यहां से अलंकरण आरम्भ होता है।

अलंकरण में सबसे पहले गोल दिये बारीक तार को डोरे से टांक कर वाह्य रेखा "आउट लाइन" बनाई जाती है। इस पूरे कार्य को 'टांकल" कहते हैं जिस तार का प्रयोग किया जाता है उसे "गिजाई" कहा जाता है क्योंकि देखने में यह तार बहुत बारीक गिजाई जैसा लगता है। टांकल की गिजाई में तार "पिरोया" जाता है जिसमें कि आउटलाइन मजबूत हो जाय। गिजाई के स्थान पर इसमें गोखरू और कलाबत्तू से भी काम चला लिया जाता है। कपड़े के काम में गिजाई की टांकल न होकर कलाबत्तू का काम होता है। हल्का काम कलाबत्तू से और भारी काम गिजाई से किया जाता है। टांकल के पश्चात् अलंकरण का वास्तविक कार्य आरम्भ होता है जिसे "भरावा" कहते हैं। भरावे का अर्थ है खाली जगह को भरना। आकृति में उभार लाने के लिए सूत लगाया जाता है जिसे "सूत छानना या सूत झाड़ना" बोलते हैं। इसके पश्चात् अनेक चमकीले और रंग-विरंगे धातु अथवा प्लास्टिक के पदार्थों से भराव करते हैं। भराव की वस्तुओं का नाम है सितारा, सलमा, कोरा, तबका, मुकेश आदि। आकृति में विभिन्न रंगों के लिए मोती लगाये जाते हैं जिन्हें पोत और खड्डा भी बोलते हैं। रंग-विरगे रेशम के धागे और कांच के कटावदार नगीने भी वर्ण संयोजन के लिए लगाये जाते हैं।

मुकुट शृंगार सम्बन्धी अब तक का पूरा कार्य कारचोब पर होता है अब इसे उतार कर पीछे की ओर बंद का अस्तर और कड़ा करने के लिए कागज भी चिपकाते हैं। इसके पश्चात् अस्तर को मुकुट के आकार के अनुसार काट लिया जाता है। ऊंचाई और दृढ़ता के हेतु बांस की खंपची या फंसक का प्रयोग होता है। इस खंपची पर बादेल का तुर्रा जो कलगीनुमा होता है बैठा दिया जाता है। इस प्रकार यह मुकुट तैयार हो जाता है। स्वरूप को अधिक प्रभावशाली दिखाने के लिए मुकुट के चारों ओर प्रभामण्डल जो अग्नि की लपटों के अनुकरण पर होता है बनाते हैं और इसे तेज कहा जाता है।

पुरुष का शिरोभूषण "मुकुट" और स्त्री का "चन्द्रिका" कहा जाता है। सिर शृंगार में पहले वन्दिनी, टांक कटारे, सरपेच, मौर चन्द्रिका, पिटारा आदि पृथक पृथक भाग होते थे किन्तु कालान्तर में वे संयुक्त होकर मुकुट में समाहित हो गये। अब से लगभग ७५ वर्ष पूर्व जगन्नाथ द्वारा नामक कलाविद् ने ब्रजरत्न नाम से भगवान् कृष्ण का एक विशेष मुकुट आरम्भ किया था जिसमें मुकुट के अनेक भाग मिला लिए गये और कुंडलों के स्थान पर झूमके का प्रयोग हुआ इसे पहनने और पहनाने में बड़ी सरलता हो गई है।

स्वरूप और साम्प्रदाय भेद से मुकुटों के भी अलग–अलग भेद हैं। विभिन्न उत्सव और पर्वों के समय भी इनमें अन्तर कर दिया जाता है। श्रीकृष्ण के कुण्डल मोर की आकृति के होते हैं और राम के मत्स्य या मकर की आकृति के। मुकुटों का झुकाव जिसका पारभाषिक नाम "लटक" है साम्प्रदाय भेद से विशेष महत्व रखती है। कुछ लोग मुकुट का झुकाव दाहिनी ओर स्वीकार करते हैं और कुछ बांयीं ओर। केवल इसी बात पर ब्रज में कभी कभी शास्त्रार्थ और न्यायालयों में मुकदमें भी चलते रहते हैं। मुकुट की लटक नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई।

वस्त्र या पोशाक :— नाटक के स्वरूपों आदि के वस्त्रों को बनाने की वही विधि है जो मुकुट या शृंगार की अर्थात् कारचौब पर चढ़ा कर पूरी विधि सम्पन्न की जाती है केवल अन्तर यह है कि बस्त्रों में कागज का प्रयोग न होकर मखमल रेशम, साटन आदि का प्रयोग होता है। शेष सलमा–सितारे आदि का कार्य लगभग ज्यों का त्यों है। मूल्यवान वस्त्रों में उत्तम प्रकार का सामान लगाया जाता है। और इस दृष्टि से सलमा के दो भेद हो गये हैं— पहला सच्चा जिसमें चांदी के तार पर सोने का पानी होता है और दूसरा झुट्ठा जिसमें तांबों के तार पर निकिल आदि की पालिश रहती है। सितारा और डोरी अब प्लास्टिक की बनने लगी है किन्तु सलमा प्लास्टिक का नहीं बनता। कृष्ण जी की पोशाक में विविध प्रकार के वस्त्र सम्मिलित हैं जैसे पीछे ओढ़ने की इकलाई, पैरों तक ढकने वाला जामा, बगल बन्दी, पाजामा, पटका जो दुपट्टा जैसा होता है धोती की जगह पहने जाने वाली पीताम्बरी जिसे फेंटा भी कहते हैं। राजाओं द्वारा पहने जाने वाली पोशाक में चोगा विशेष है। स्त्री शृंगार में लंहगा, ओढ़नी अधिक प्रचलित है। ब्रज में घोड़े की झूल बनाने की एक विशेष परिपाटी है जिसका उपयोग शादी, विवाह तथा अन्य उत्सवों के समय होता है। घोड़े का साज भी कारचोबी पर चढ़ा कर बनाया जाता है।

केले आदि का काम :— केले के पेड़ की परतें उतार कर उनके अनेक आकृतियों से युक्त मण्डप, हिंडोले आदि बनाने में ब्रज के कलाकार सिद्धहस्त हैं। कभी तो किसी रंगीन वस्त्र की पृष्ठ भूमि देकर सजाया जाता है। सुदर्शन की जड़ की परतों को इसी प्रकार सज्जा और अलंकरण के प्रयोग में लाते हैं। केले को पृष्ठभूमि में देकर सुदर्शन के हलके रंग के सफेद बेल–बूटे बड़े अच्छे लगते हैं। इसी प्रकार मन्दिरों में फूल–बंगला बनवाने की भी ब्रज की रीति है। बांस अथवा लकड़ी के फ्रेम पर पुष्पों और कलियों की पंक्तियों को इस प्रकार जड़ते हैं कि सम्पूर्ण संरचना प्रस्तर प्रासाद मण्डप में उत्कीर्ण प्रतीत होती है। इसी प्रकार देव मूर्तियों के लिये कलियों का शृंगार तैयार किया जाता है जिसमें कुंद, चम्पा टगर आदि की कलियों से अनेक प्रकार के नयनाभिराम आभूषण तैयार किये जाते हैं हल्के प्रकाश में इनकी छटा देखते ही बनती है।

उत्सव अथवा यज्ञभूमि के प्रसाधन में जो मखमल का भी प्रयोग किया जाता है इसके लिए जौ को बो कर उनके कल्ले फूटने पर विविध आकृतियों में प्रदर्शित कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार की और भी अनेक सज्जा-कलायें ब्रज-भूमि में प्रचलित हैं जो कि अध्यात्म और सौन्दर्य के अद्‌भुत समन्वय का सन्देश देती हैं।

———

श्री रमेश चन्द्र शर्मा, निदेशक, राज्य संग्रहालय, मथुरा।

Price : Rs. 6-00

Printed by : PREMIER PRINTING PRESS, 75, Hafeez Manzil, Naya Gaon, (West), LUCKNOW-226 018.